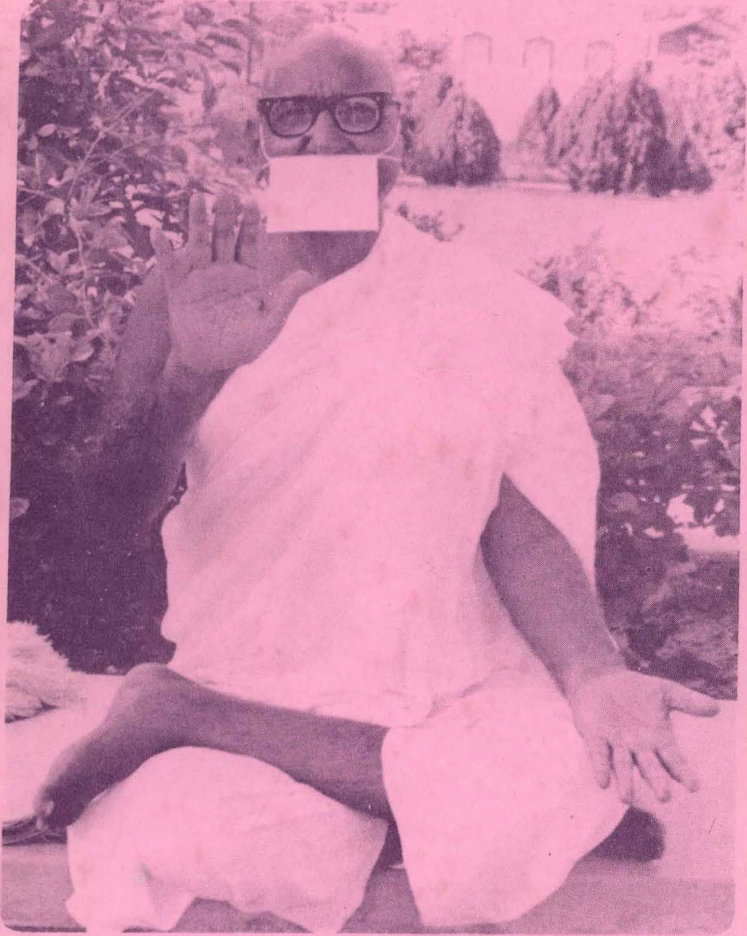


अमर डायरी



प्रकाशक

श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

अमर डायरी

राष्ट्र सन्त
उपाध्याय कविरत्न अमर मुनि

सम्पादक
शास्त्री विजय मुनि साहित्य-रत्न

प्रकाशक
श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

प्रकाशक :

मन्त्री

**श्री सन्मति ज्ञान पीठ
लोहा मण्डी, आगरा**

प्रथम प्रकाशन :

अमर डायरी

१५ अक्टूबर, १९९७

मूल्य : २५ रु. मात्र

**मुद्रक : रवि ऑफसैट प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स (प्रा.) लि.
५/१६९/१, लता कुंज, पुराना आगरा-मथुरा मार्ग,
आगरा-२**

कवि जी का सामाजिक कृतित्व

वर्तमान युग के प्रज्ञा-स्कन्ध :

श्रद्धेय कवि श्री जी देश, काल एवं क्षेत्र की अपेक्षा से एक सीमा में रहे हैं। वे भारत के एक प्रान्त में जन्मे और एक सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित हुए। क्षेत्र की दृष्टि से उनका शरीर भारतीय है और वे भारत में ही रह रहे हैं। उनके साधना-जीवन का उदय एक सम्प्रदाय में हुआ। परन्तु उनकी साधना का प्रभाव एक राष्ट्र और एक प्रान्त के घेरे में आबद्ध नहीं रहा और न साम्प्रदायिकता की छोटी-सी कारा में ही बन्द रहा। उनका मन-मस्तिष्क कभी किसी दायरे में बंध कर नहीं रहा। वे जब भी सोचते-विचारते हैं, बाड़े-बन्दियों से ऊपर उठकर सोचते हैं। उनका ज्ञान, उनका चिन्तन, उनका उपदेश और उनका कर्म सीमित क्षेत्र में होते हुए भी ससीम नहीं है। वह किसी प्रान्त, जाति या सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं, प्रत्युत मानव मात्र के हित के लिए है। मानव ही नहीं प्राणी-जगत के हित के लिए, कल्याण के लिए और अभ्युदय के लिए है। उनका यह वज्र-आघोष रहा है, कि प्राणी मात्र के अभ्युदय की कामना एवं उनके लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही मानव का अपना उदय है। जो दूसरे का हित नहीं चाहता, विकास नहीं चाहता, अभ्युदय और उसके लिए प्रयत्न भी नहीं करता, उसका क्षपना विकास एवं उदय भी नहीं होता।

कविजी का चिन्तन केवल अपने कल्याण के लिए नहीं, विश्व के हित के लिए भी है। वे मानव मन के आशा केन्द्र हैं। मानव जाति के लिए ज्योति स्तम्भ हैं, प्रज्ञा-स्कन्ध हैं। मानव जीवन की विशेषता है, उसकी मनन शक्ति, चिन्तन शक्ति। जिसे हम प्रज्ञा कहते हैं, ज्ञान कहते हैं, ज्योति कहते हैं। स्कन्ध का अर्थ

है—समूह या पुञ्ज। पौराणिक साहित्य में स्कन्ध का अर्थ अग्नि की ऊर्ध्व ज्वाला भी किया है और उसके लिए अग्नि-स्कन्ध शब्द का उल्लेख किया है। जिसका अभिप्राय है—अग्नि की उच्चतम ज्वाला। यहाँ प्रज्ञा-स्कन्ध का तात्पर्य है—ज्ञान की, चिन्तन की सर्वोच्च ज्वाला या ज्योति। मानव मन में ज्ञान की चिन्तन की, विचारों की ज्योति कितनी ऊँची उठ सकती है, और कितनी दूर तक आलोक की रजत रश्मियों को फैला सकती है, इस बात को कवि जी के जीवन में देख सकते हैं। उनके जीवन का हर कोना ज्योतिर्मय है। उनके आचार पक्ष को देखिए विचार पक्ष को देखिए, सब ओर प्राणी जगत के अभ्युदय के लिए ज्योति है, प्रकाश है।

मानव का मानव के प्रति रहने वाला प्रेम, स्नेह एवं विश्वास आज कम होता जा रहा है। वात्सल्य का झरना सूखता जा रहा है। आकाश और धरती पर विज्ञान की विजय होते हुए आज मानव जाति का आपसी व्यवहार उलझन में पड़ गया है। इन उलझनों को कैसे सुलझाया जा सकता है, मानव-मानव के मन के बीच पड़ी हुई खाई को कैसे षटा जा सकता है और मानव प्रेम, स्नेह एवं समन्वय के धरातल पर पुनः कैसे प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है? इस बात को कवि जी के जीवन में, कवि जी के विचारों में एवं उनके साहित्य में देखा जा सकता है। उलझन भरी परिस्थितियों को सुलझाना ही कविजी का जीवन है। वे जीवन के प्रभात से लेकर अब तक मानव मन की समस्याओं को ही सुलझाते रहे हैं। जीवन की गुत्थियों को खोलना ही उनका काम है। अमर डायरी इस का प्रमाण है।

सादड़ी से लेकर भीनासर सम्मेलन तक का इतिहास हमारे सामने है। सन् १९५२ में सादड़ी में स्थानकवासी साधु समाज का सम्मेलन हुआ था। उस समय सभी सम्प्रदायों का विलीनीकरण करके श्री वर्द्धमान स्थानक जैन श्रमणसंघ का निर्माण किया। उस समय कई सम्प्रदायों के आचार्य, उपाध्याय एवं बड़े-बड़े सन्त विद्यमान थे। उनका अपना व्यक्तित्व था, परन्तु कवि जी का व्यक्तित्व ही सब पर छाया रहा। वे सम्मेलन के प्रमुख वक्ता और संघटन की कड़ी बने रहे। उनके अथक परिश्रम से एक आचार्य की योजना सफल हुई। एकता के मार्ग में कई रोड़े आए, अनेक समस्याएँ उठीं, परन्तु कवि श्री जी के

उर्वर मस्तिष्क एवं समन्वयकारी विचारों ने शंका-कुशंकाओं के सारे कुहरे को हटा दिया। कविजी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है, कि उन पर नये और पुराने—दोनों का विश्वास एवं निष्ठा रही है।

सादड़ी के बाद सोजत सम्मेलन के प्रांगण में जब आगम चर्चा का अवसर आया, तो कवि जी का चिन्तन मुखरित हो उठा। उस समय का दृश्य देखने योग्य था और चर्चा सुनने एवं मनन करने योग्य थी। केले की सचितता, अचितता एवं प्रतिक्रमण तथा उसमें पक्खी, चातुर्मासी और सम्बत्सरी को कितने लोगस्स का ध्यान करना? यदि प्रश्न सामने थे। मरुधरा के महान् सन्त श्री समर्थमल जी महाराज और श्रद्धेय कवि श्री जी महाराज इस विचार-चर्चा के प्रमुख प्रवक्ता थे। श्री समर्थमल जी महाराज को मूल आगम के प्रमाणों का आग्रह था, वे टीका एवं ग्रन्थों के प्रमाण नहीं चाहते थे। अस्तु, कवि श्री जी ने उनकी चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा, कि मैं मूल आगम के आधार पर विचार-चर्चा के लिए तैयार हूँ। परन्तु दूसरे पक्ष को भी चाहिए, कि वह अपनी बात को सिद्ध करने के लिए आगम के बाहर न झाँके, ग्रन्थों के प्रमाणों के गली-कूचों को ढूँढ़ता न फिरे। केले की अचितता, पर्व पर एक प्रतिक्रमण को सिद्ध करने के लिए कवि श्री जी ने आगम के पृष्ठ खोलकर रख दिए। परन्तु श्री समर्थमल जी महाराज अपनी बात पर टिक नहीं सके। आगम की अक्षांश-रेखा को उल्लंघनकर ग्रन्थों के उद्धरण देने लगे और ग्रन्थों के आधार पर भी वे केले की सचितता को सिद्ध नहीं कर सके। कवि जी का आगम अध्ययन कितना गहन है और उनकी विश्लेषण शक्ति कितने गजब की है, यह देखकर साधु-साध्वी स्तब्ध रह गए। श्रद्धेय समर्थमल जी महाराज का भी यह स्वर मुखरित हो उठा कि 'कवि जी जबर—जबरदस्त हैं।' कवि जी की समझाने एवं विवेचन करने की शक्ति का मूल्यांकन आप इस बात से कर सकते हैं कि जब कविश्री जी बोलने के लिए खड़े होते, तो अन्य वक्ताओं के समय रिक्त पड़ा स्थान दर्शक साधु-साध्वियों से खचाखच भर जाता और सब अनिभेष दृष्टि से उनकी ओर देखने लगते।

भीनासर सम्मेलन, जिसमें श्रमण-संघ की नौका डगमगाने लगी थी। विघटन के घनघोर बादल उमड़-घुमड़ कर आ रहे थे। उस समय भी कवि जी घबराए नहीं। सम्मेलन के पूर्व बीकानेर में चल रही विचार-परिषद् में सम्मिलित होते ही

उनका स्वागत काफी कटु शब्दों में किया गया। एक सन्त ने, जो डंडे के बल पर सम्मेलन पर छा जाना चाहते थे—कवि श्री जी पर नये नेता और इससे भी कुछ अशिष्ट एवं भद्दे व्यंगों का भी प्रहार किया और उन पर सम्मेलन की कार्यवाही में गतिरोध उत्पन्न करने का आरोप लगाया गया। इसमें कुछ बड़े सन्तों का भी उनको समर्थन प्राप्त था, जो कवि जी के व्यक्तित्व के सामने कुछ बोल नहीं सकते थे, परन्तु अन्दर-अन्दर जलते थे। कवि जी का समत्व-योग एवं उनकी दृढ़ता उस समय खुलकर सामने आई। वे व्यंग-प्रहारों से जरा भी विचलित नहीं हुए और न अपमान से उनका मन ही खिन्न हुआ। वही प्रसन्नता उनके चेहरे पर अठखेलियाँ कर रही थीं, जो सदा-सर्वदा रहती है। वे सत्य पथ पर कदम बढ़ाते समय मान-अपमान की परवाह नहीं करते। क्योंकि इस पथ के पथिकों को सम्मान के स्थान पर अपमान ही अधिक मिलता है। अपमान एवं व्यंगों से घबराकर उन्होंने अपने पथ को नहीं त्यागा। उन्होंने आदर एवं सम्मान के साथ मधुर स्वर में कहा कि मैंने आपकी कार्यवाही में कोई गतिरोध पैदा नहीं किया। गतिरोध के बीज कहाँ हैं, यह आप अपने अन्तर में उतर कर देखें। मैंने तो सिद्धान्त की बात कही है, कि नोखामण्डी से लेकर अब तक आपने जो कुछ कार्य किया है, वह केवल विचार-चर्चा है, उसको निर्णय का रूप भीनासर सम्मेलन में दिया जाएगा। भीनासर सम्मेलन के पूर्व उसे निर्णय या प्रस्ताव नहीं कह सकते। इसमें किसी को अपना अपमान नहीं समझना चाहिए। क्योंकि हमारा सम्मेलन भीनासर में शुरू होगा और सारे प्रतिनिधि वहीं अपना मत देंगे। अस्तु, उसके पूर्व की गई कार्यवाही को प्रामाणिक एवं निर्णायक कैसे माना जा सकता है? सत्य के सामने आवेश कब तक ठहरता, उसे तो पराभूत होना ही था। क्षमा याचना हुई और कार्यवाही आगे चली।

भीनासर सम्मेलन में अनेक उलझनें आईं। आचार्य-उपाचार्य के अधिकारों के प्रश्न को लेकर दो दिन तक आचार्य-उपाचार्य के दो प्रमुख शिष्यों में संघर्ष चलता रहा। सभी सदस्य मौन भाव से तमाशा देखते रहे। उस समय ऐसा लग रहा था कि आचार्य-उपाचार्य श्रमण-संघ के नहीं, उनके दो शिष्यों के व्यक्तिगत हैं। संघ की इसमें कोई दिलचस्पी न देखकर तथा समस्या को अधिक उलझते देखकर कवि जी उठे और दो दिन में नहीं सुलझने वाली उलझनों को कुछ मिनटों में सुलझा कर रख दिया।

ध्वनि-वर्धक यन्त्र का जब प्रश्न आया, तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि “जहाँ तक सैद्धान्तिक प्रश्न है—मैं विद्युत् को अचित्त मानता हूँ और इसके लिए कोई विचार-चर्चा करना चाहें, तो मैं तैयार हूँ।” परन्तु जब समझौते का मार्ग ढूँढ़ा जाने लगा, तब आपने कहा—“जब बिजली को सचित्त मानने वाला पक्ष यह कहता है कि हमारे पास आगम-प्रमाण है और अचित्त मानने वाला पक्ष भी अपने पास आगम-प्रमाण होने का दावा करता है, फिर हमारे श्रद्धेय पुरुष आगम-चर्चा से क्यों कतराते हैं। जब प्रमाण हैं, तो सामने आने चाहिए।” परन्तु इतने पर भी कोई चर्चा के लिए तैयार नहीं हुआ, तो समझौते का मार्ग अपनाया गया। समझौते के मार्ग में पहले नये विचारक कुछ अड़े तो बाद में पुराने विचारक कुछ पीछे हटने लगे। समस्या सुलझ नहीं सकी। एक संत ने अनशन करने की धमकी भी दी, फिर भी गुत्थि उलझी ही रही। अन्त में कविश्री जी ने दोनों पक्षों से विचार-विमर्श किया और थोड़े ही समय में राह निकाल ली गई।

सचमुच में कवि जी सभी सम्मेलनों में सब के आशा केन्द्र रहे हैं। उनकी अद्भुत सूझ-बूझ ने संघ की नैया को सदा सुरक्षित रखा है। अनेक तूफान आए और अनेक बार संघ की नौका संकटों के भँवर में जा फँसी, परन्तु कुशल नाविक ने उसे हर बार उबारा है, बचाया है। इस समय भी संघ संकट की परिस्थिति से गुजर रहा है। विघटन का राहु उसे ग्रसने को तैयार है। जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द रूप से सम्बन्ध विच्छेद की घटनाएँ घट रही हैं—जो संघ के लिए निराशा का वातावरण लिए हुए हैं। उसमें केवल कविजी ही आशा के प्रकाश स्तम्भ हैं। गत वर्ष सम्मेलन होने वाला था, परन्तु उनका वर्षावास भगवान महावीर की साधना भूमि राजगृह में होने के कारण उनका सम्मेलन में ठीक समय पर पहुँचना कठिन था और वे सम्मेलन के पूर्व भूमिका शुद्धि की भी अपेक्षा रखते थे। अतः गत वर्ष उसे स्थगित कर दिया गया। इस वर्ष आचार्य श्री जी ने फाल्गुन शुक्ला तृतीया को अजमेर में सम्मेलन करने की घोषणा की। श्रद्धेय कवि श्री जी अस्वस्थ होते हुए भी पहुँचने का संकल्प रखते हैं। समस्त संघ की आँखें भी आपकी ओर लगी हुई हैं।

—मुनि सम्दर्शी प्रभाकर

समत्व-योगी, उपाध्याय, अमर मुनि जी महाराज

समता साधना का प्राण है, जीवन की ज्योति है। जिस जीवन में समता नहीं है, समभाव नहीं है, उसमें साधना की ज्योति ज्येतित नहीं हो सकती। समभाव की साधना के बिना साधक अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। साध्य सिद्धि के लिए सबसे पहले शर्त यह है कि साधक अपने मन पर जमी हुई विषमता की कालिख को धो ले। अपने और पराए के भेद की दीवार को गिरा दे। सम्मान और अपमान में सदा एक रूप बना रहे।

श्रद्धेय कवि श्री जी एक साधक हैं। समता उनके जीवन का मूल-मन्त्र है। वे प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान करते हैं। उनके जीवन में अपने-पराए का कोई भेद नहीं है, हरिजन-परिजन का कोई झगड़ा नहीं है। मानवता के नाते मानव सब एक हैं। अस्तु, किसी-जाति विशेष में जन्म लेने के कारण किसी मानव का अनादर करना, उससे घृणा करना, अपना ही अनादर करना है।

कवि श्री जी की समत्व-साधना महत्वपूर्ण है। विषमता की चिनगारियाँ उनको अपने पथ से विचलित नहीं कर सकतीं। उनके जीवन में एक-दो नहीं, अनेकों ऐसे प्रसंग आए हैं, कि गालियों की बौछारें होती रहीं और यह मस्त साधक शान्त-भाव से अपने पथ पर बढ़ता ही रहा। आलोचनाओं एवं अपमानों के कड़वे घूँट पीने में कवि जी को सम्मान की सुधा से भी अधिक आनन्द आता है। उनका वह वज्र आघोष रहा है, कि क्रान्ति पथ के पथिक को सम्मान नहीं, सदा अपमान ही मिला है और मान एवं अपमान से ऊपर उठकर सोचने वाला साधक ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

—मन्त्री

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

चिन्तन की चिनगारियाँ

प्रातःकाल का स्वर्णिम-आभा से आलोकित समय है। शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर बह रहा है। प्रकृति नव-जागरण की मादक अँगड़ाई ले रही है। आप पुष्पाराम में चक्रमण कर रहे हैं। जिधर देखते हैं, उधर ही मोहक सुषमा लिए खिलते फूल दृष्टिगत होते हैं, और उनकी भीनी-भीनी सुरभि तन-मन को आनन्द-विभोर कर देती है। फेफड़ों में प्राणवायु की संजीवनी का संचार होता है और मुरझाती जीवन-कलिका पुनः तरोताजा हो जाती है।

साधक जब अपने आराध्य वीतराग महापुरुषों का स्मरण करता है, उनके भाव-चरणों में अपने को अर्पण करता है, उनके भव्य विराट साधना-रूप पुष्पोद्यान में विचरण करता है तो वह भी ठीक ऐसी ही विलक्षण आनन्दानुभूति एवं नव जीवन की प्राणदा-शक्ति का सुखद स्पर्श करता है। कभी उसे सत्य के विराट एवं भव्य रूप का दर्शन होता है, तो कभी उसे अहिंसा, करुणा और वात्सल्य की मोहक सुगन्ध महकती मिलती है। अविचल श्रद्धा, निर्मल विश्वास और सहज सरल भक्ति भाव की अमोघ संजीवन शक्ति का आध्यात्मिक जीवन में वह दिव्य संचार होता है कि साधक का मुरझाया हुआ जीवन-पुष्प पुनः खिल उठता है, महक उठता है, और सदा सर्वदा के लिए तरो-ताजा हो जाता है।

क्षुद्र कुछ अधिक गरजता है

क्षुद्रता अधिक मुखर होती है और जो जितना महान होता है, विराट होबा है, वह उतना ही प्रशान्त मौन ! बड़प्पन दूसरों के द्वारा बोली जाने वाली वस्तु है, अपने द्वारा बोली जाने वाली नहीं ।

भरा-पूरा घड़ा नहीं छलकता, अधूरा-आधा घड़ा छलकता है ।

“सम्पूर्ण-कुम्भो न करोति शब्दं,
अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम् ।”

अगाध जल-संचारी मत्स्यराज मगरमच्छ अपने जल-विहार जन्य आनन्द का कहाँ हल्ला करता है ? परन्तु तलैया के कीचड़ से भरे गन्दे पानी को पाकर क्षुद्र मेंढक टर्-टर् की कर्ण-स्फोटक ध्वनि से आसमान सर पर उठा लेता है ।

“अगाध जल-संचारी,
गर्वं नायाति रोहितः ।
पीत्वा कर्दम-पानीयं,
भेको रटरटावते ॥”

बस एक बात और ! कांसी का पात्र बजता है, सेने का नहीं । मनुष्य को यदि असली सोना बनना है, तो उसे बजना नहीं चाहिए, टनटनाना नहीं चाहिए । भगवान् महावीर कहते हैं—‘अजंपिरे’ रखे ।

५

चालक अच्छा होना चाहिए

शरीर इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार मिलते हैं । कुछ लोग कहते हैं—‘ये अच्छे हैं’ और कुछ लोग कहते हैं—‘ये बुरे हैं’ । कुछ का कहना है—मानव-आत्मा को, ये डुबाने वाले हैं, तो कुछ का कहना है—ये तारने वाले हैं । यही अच्छे-बुरेपन की बात धन-सम्पत्ति, परिजन-परिवार, पद-प्रतिष्ठा और यहाँ तक कि ज्ञान-विज्ञान के सम्बन्ध में भी चर्चा का विषय बनी हुई है ।

मैं अपनी बात कह दूँ। मनुष्य को प्राप्त ये निष्कट की या दूर की उपलब्धियाँ अपने आप में न अच्छी हैं, न बुरी हैं। इनका अन्वेषण या बुरापन मानव की चिन्तन-पद्धति पर निर्भर है, और निर्भर है उनके सदुपयोग और दुरुपयोग पर। किसी भी वाहन या हथियार की अच्छाई, उसके चालक की अच्छाई पर ही तो निर्भर है। युग-युग तक इतिहास साक्षी रहेगा कि भारत-पाक संघर्ष में अमरीका के सर्वश्रेष्ठ पैंटन टैंक और सैबरजेट विमानों की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई, अनाड़ी पाक-चालकों के हाथों से। और साधारण कहे जाने वाले सेन्च्युयरी टैंक और नेट विमानों को प्रतिष्ठा के चार चाँद लग गए, भारतीय चालकों के कुशल कर-कमलों से।

५

विनोद और व्यंग्य

विनोद और व्यंग्य, मानव-हृदय को निर्मल आनन्द की धारा में नहलाने का, उसे सँवारने-सजाने का एक अच्छा हलका-फुलका साधन है। विनोद से सूना-सूना उदासीभरा वातावरण स्फूर्ति और ताजगी से उत्फुल्ल हो उठता है। जीवन की यातनाओं एवं कठिनताओं में तो विनोद पर्याप्त सहारा बन जाता है। दुःख की विस्मृति के लिए विनोद अमोघ औषध है।

परन्तु विनोद केवल हलके दर्जे का हँसना और कहकहा लगाना नहीं है। विनोद अपने में निश्चल एवं निर्मल होना चाहिए, और पूर्वाग्रह एवं विद्वेष से मुक्त होना चाहिए। विनोद की चुटकियाँ वस्तुतः वे ही अच्छी होती हैं, जो दोनों ओर के हृदय को गुदगुदाएँ, आसपास को भी खिलखिलाएँ। विनोद में भावना के साथ विवेक का अनुगुंजन होना आवश्यक है। सुरुचिता ही विनोद की आत्मा है।

५

पीछे नहीं, आगे देखिए

अतीत का महत्त्व है, इससे इन्कार नहीं। उसे यों ही भुलाकर नहीं रहा जा सकता। परन्तु कदम-कदम पर अतीत की दुहाई देना, उसी से चिपटे रहना, हर

बात पर पीछे मुड़कर देखना, अपने को खतरे में डालना है। अतीत की स्मृति भले ही रहे, परन्तु दृष्टि तो भविष्य की ओर ही केन्द्रित रहनी चाहिए। हम क्या थे, इसकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण यह देखना है कि अब हमें क्या बनना है ?

समय के साथ आगे चलिए, आगे बढ़िए। और जब आगे बढ़ना है, तो आगे देखिए। यदि मनुष्य का पीछे की ओर देखना जरूरी होता, तो आँखें आगे की बजाय पीछे होतीं।

५

भूत के पैर पीछे की ओर

बचपन में भूतों की कहानियाँ बड़े चाव से सुना करता था। गाँव की बूढ़ी दादियाँ, जो अड़ोस-पड़ोस की होतीं, हम सब बच्चों को अधिकतर इसी तरह की कहानियाँ सुनाया करती थीं + भूतों के लक्षण बताते हुए कहा जाता था—‘उनके पैर ग्लानी-पंजे पीछे की ओर उलटे होते हैं।’ आज इस बात का पुनर्मूल्यांकन करता हूँ तो लगता है कि जो लोग युग के अनुकूल निर्माण की दिशा में आगे बढ़कर नयी परम्पराएँ नहीं स्थापित करते, प्रत्युत गली-सड़ी अर्थहीन पुरानी परम्पराओं की ओर ही चलते रहते हैं, सचमुच वे भूत ही हैं। ठीक है, उनके तन के पैर उलटे नहीं हैं, परन्तु मन के पैर तो उलटे हैं ही।

५

दृष्टि और भावना

जीवन-निर्माण की दिशा में दृष्टि और भावना—दोनों का ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। दृष्टि के बिना भावनाएँ अन्धी और गूंगी रह जाती हैं। उनमें कर्म के लिए उबाल और उछाल तो होता है, पर उनसे मार्गदर्शन नहीं हो पाता। कर्म कैसा है, कब और क्यों कर्तव्य है ? इस पर दृष्टि ही प्रकाश डालती है। दृष्टि ही भावना को निश्चित आकार अर्पण करती है।

भावना के बिना दृष्टि निर्जीव और निष्प्राण है। भावना का उत्स होने पर ही दृष्टि गतिमान होती है, अन्यथा वह पंगु है, लूली लँगड़ी है।

छिपे हुए सत्य का उद्घाटन करने के लिए दृष्टि चाहिए और उद्घाटित सत्य को गतिशील करने के लिए भावना। हृदय और मस्तिष्क, दोनों कर्म-विद्युत के दो तार हैं। दोनों के मिलते ही जीवन में कर्म का प्रकाश जगमगाने लगता है।

५

थोथा चना, बाजे घना

मैं देखता हूँ, मैं ही क्या प्रायः सभी देखते हैं कि मूर्ख अपने पांडित्य की लंबी-चौड़ी दुहाई दे रहे हैं, और कुछ आचारहीन लोग उत्कृष्ट एवं उद्दीप्त आचार के लिए बहुत अधिक शोरोगुल कर रहे हैं। ऐसा क्यों है? मनोविज्ञान का यह सुप्रसिद्ध सूत्र है कि हीन भावना के कारण ऐसा होता है। जिसका अभाव होता है, मनुष्य उसके लिए अधिक प्रदर्शन करता है। दरिद्र माँगे हुए अलंकारों से अपने अहं की तृप्ति करता है। कुरूप कुछ अधिक बन ठन कर रहता है। नकली सोना अधिक चमकता है। बच्चे के प्रति माँ से ज्यादा प्यार करने का तमाशा डायन ही करती है। धर्म-शील की अपेक्षा शैतान धर्म-ग्रन्थों का हवाला अधिक देता फिरता है। यह सत्य आज का नहीं, प्राचीन काल का है। एक आचार्य ने कहा है : “कुलटा स्त्री लज्जा का अधिक नाटक करती है। खारा पानी अधिक शीतल होता है। धूर्त व्यक्ति जरूरत से ज्यादा मीठा बोलता है और दंभी एवं पाखण्डी धर्म-धूर्त आचार-विचार के विवेक का अधिक दिखावा करता है।” कहावत आज भी है—‘थोथा चना बाजे घना।’

५

आलोचना का शुद्ध रूप

आलोचना अपने में कोई बुरी बात नहीं है। आलोचना के मूल में यदि घृणा नहीं है, व्यर्थ ही किसी को चिढ़ाने का विचार नहीं है, एकमात्र भूल-सुधार की एवं शुद्ध निर्माण की दृष्टि ही है, तो वह सामाजिक जीवन के लिए वरदान है। आलोचना के बिना व्यक्ति, संस्था या संघटन शिथिल हो जाते हैं, कर्तव्य के प्रति उदासीन हो जाते हैं। आलोचना वह चाबुक है, जो आलोच्य की शिथिलता दूर

कर देती है एवं कर्तव्य के प्रति सजग और सतर्क । लोकतांत्रिक दृष्टिकोण की मूल प्रकृति ही यह है कि मतभेद और विरोध के बावजूद घृणा उत्पन्न न हो, शालीनता और सहिष्णुता बनी रहे, सत्य-स्थिति का अलाप न हो, दो-चार दोषों की आलोचना में अन्य महत्त्वपूर्ण सद्गुणों का उपहास न हो । कड़वे को कड़वा कहो, कोई आपत्ति नहीं । परन्तु ऐसा न हो कि कड़वे के आवेग में कहीं मीठे को भी कड़वा ही प्रचारित किया जाए ।

संक्षेप में कहूँ तो सर्वोत्तम आलोचना वही है, जो आलोच्य व्यक्ति को बाहर की सतह पर परिवर्तित करने के बदले, उसको अन्दर की गहराई में से परिवर्तित करे—सत्यानुभूति के साथ, और वह भी सहज मधुरता के साथ ।

५

क्या धर्म बुद्धि-प्रभावक नहीं है ?

धर्म की आराधना में नारी जाति अधिक रस लेती है, इस पर प्रसन्नता भी होती है और ग्लानि भी । इसी प्रकार बालक, ग्रामीण जनता धर्म क्षेत्र में अधिक श्रद्धालु हैं, इस पर भी प्रसन्नता और ग्लानि की उभयमुखी प्रतिक्रिया होती है ।

ऐसा क्यों ?

प्रसन्नता इसलिए कि नारी, बालक और ग्रामीण धर्माराधन करते हैं—यह अपने में अच्छी बात है । ग्लानि इसलिए कि—वे अशिक्षित हैं, भद्र हैं, केवल भावनाशील हैं—चिन्तक नहीं हैं, यह प्रशंसा के पीछे सूक्ष्म अवज्ञा की छाया रही हुई है ।

धर्मगुरु कहते हैं—“बस, धर्म तो बहनों में रहा है । पुरुष तो धर्म से पराङ्मुख होते जा रहे हैं । जब तक बच्चे रहते हैं, धर्म की लगन रहती है । बड़े हुए, पढ़े-लिखे और बस नास्तिक । शहरों में क्या रखा है, धर्म का रंग तो गाँवों में देखिए ।” इसका अर्थ यह है कि धर्म का बुद्धि से वैर है । यदि ऐसा ही है, तो यह तो स्वयं धर्म की पराजय है, हार है । क्या धर्म को बौद्धिकता से डरना चाहिए, भागना चाहिए ? नहीं, बौद्धिक क्षेत्र में तो वह अधिक आदर के साथ ग्राह्य होना चाहिए ।

साम्प्रदायिक अभिनिवेश अथवा बाह्यचारीय आवेग के कारण धर्म में यदि कुछ विकृत तत्व प्रविष्ट हो गए हैं, और उनके कारण धर्म को बौद्धिक स्पर्श से डरना पड़ता है, तो धर्म गुरुओं को चाहिए कि निर्भयता के साथ उनका परिमार्जन करें। केवल बौद्धिक वर्ग को दोष देते रहने से तो हानि है, लाभ नहीं।

धन दौलत पाकर भी सेवा
 अगर किसी की कर न सका।
 दया भाव ला दुःखित दिलों के—
 जख्मों को जो भर न सका।
 वह नर अपने जीवन में,
 सुख-शान्ति कहाँ से पाएगा।
 ठुकराता है जो औरों को,
 स्वयं ठोकरें खाएगा।

५

जैसा चिन्तन, वैसा जीवन

जो मनुष्य निरन्तर किसी गुण-विशेष का ध्यान करता रहता है, एक दिन वह गुण उसमें आ जाता है। अतएव तुम जिस विषय का ध्यान करो, वह उच्च और उत्तम हो, ताकि तुम भी उच्च और उत्तम बन सको।

५

ब्रह्म और माया

जहाँ माया है वहाँ ब्रह्म नहीं, और जहाँ ब्रह्म है, वहाँ माया नहीं। यह नहीं हो सकता कि हृदय में माया भी रहे और ब्रह्म भी रहे। जहाँ प्रकाश रहता है, अन्धकार कैसे रह सकता है? जीवन-विकास के तीन साधन हैं—विश्वास, विचार और आचार। इन तीनों में सन्तुलन और समन्वय की आवश्यकता है। तीनों का सन्तुलित रूप ही विकास है।

५

अहिंसा और अनेकान्त

यदि समग्र विश्व का कोई एक धर्म हो सकता है तो वह अहिंसा ही है। प्राण-प्राण के प्रति जो प्रेम है, वही अहिंसा है। नास्तिक और स्वच्छन्दवादी व्यक्ति भी इस धर्म को मानने से इन्कार नहीं कर सकता। यदि निखिल विश्व का कोई एक दर्शन हो सकता है, तो वह अनेकान्त ही है। विचारों का अनाग्रह ही, अनेकान्त है। यह अनेकान्त जब जीवन के धरातल पर उतर आता है, तब समस्त विरोध शान्त हो जाते हैं और संसार में सर्वत्र शान्ति हो जाती है।

५

समन्वय बनाम शान्ति

जीवन को सुन्दर, मधुर और रुचिर बनाने के लिए दो साधनों की आवश्यकता है—विचारों का समन्वय और व्यवहार में शान्ति। जहाँ समन्वय और शान्ति होती है, वहीं जीवन रूपी वृक्ष अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है।

५

धर्म ही सर्व-मंगल है

संसार का प्रत्येक व्यक्ति मंगल की अभिलाषा करता है, अमंगल की अभिलाषा किसी के भी मन में नहीं होती। मंगल क्या है—अहिंसा, संयम और तप, इस त्रिविध धर्म को मंगल कहा जाता है।

५

संत का कृतित्व

संत आदर्श घड़ता है और जनता को देता है। कहा गया है—संत तप के द्वारा समाज को टिकाए रखते हैं। संत के पास प्रेम की पूँजी है, जिसके द्वारा वह जन-मन को हर लेता है, और प्रेम के साथ समझाकर जनता को सन्मार्ग पर लाने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है।

५

एक बार एक संत से पूछा गया—“यदि तुम्हें कोई कष्ट दे, तो क्या करोगे ? संत ने जवाब दिया—“क्षमा करूँगा ।”

फिर पूछा गया—“यदि वह तुम्हारे साथ दुष्टता का व्यवहार करे, तो तुम क्या करोगे ?”

संत की ओर से उत्तर मिला—“फिर क्षमा करूँगा, फिर क्षमा करूँगा । अन्त तक क्षमा ही करता रहूँगा, आखिर क्रोध और द्वेष क्षमा के समक्ष कब तक युद्ध-रत रहेंगे ।”

❖

दार्शनिक का धैर्य

एक दार्शनिक से किसी ने पूछा—“आपका विचार हमने नहीं समझा, तो आप क्या करेंगे ?”

दार्शनिक ने शान्त भाव से कहा—“मैं आपको प्रेम से समझाऊँगा ।”

जिज्ञासु ने कहा—“यदि आपके बार-बार समझाने पर भी हम नहीं समझे, तो आप क्या करेंगे ?”

दार्शनिक ने एक मधुर मुस्कान के साथ कहा—“मैं आपको तब तक समझाता ही रहूँगा, जब तक आप मेरी बात को समझ न जाएँ । क्योंकि मुझे विश्वास है, कि प्रकाश के सामने अंधकार टिक नहीं सकता ।”

❖

आत्म-विश्वास

एक योगी से किसी ने पूछा—“संसार में बड़ा कौन है ?”

योगी ने मुस्कराकर कहा—“एक मैं, और दूसरा तू । पर तेरे बारे में मुझे फिर भी सन्देह है और अपने बारे में मुझे पक्का निश्चय ।”

❖

सबकी चिन्ता

एक विद्वान से किसी ने कहा—“आप बेकार में परेशान क्यों होते हैं ? आप दुनिया की चिन्ता छोड़कर अपनी चिन्ता कीजिए ।”

विद्वान ने गंभीर, साथ ही प्रसन्न वाणी में कहा—“सबकी चिन्ता में मेरी चिन्ता आ ही जाती है ।”

५

मर्द कहीं वे जो निज मुख से—
कहते थे, सो करते थे।
अपने प्रण की पूर्ति-हेतु जो—
हँसते-हँसते मरते थे।
गाड़ी के पहिए की मारिन्द,
पुरुष वचन-चल आज हुए।
सुबह कहा कुछ, शाम कहा कुछ,
टोका तो नाराज हुए।

५

अमर-डायरी

कवि श्री जी का चिंतन एवं विश्लेषण सर्वग्राही होता है। उनके विचारों के स्फुलिंग जब प्रकट होते हैं तो जीवन के त्रिकोणों में छिपे बैठे अन्धकार को उज्ज्वल प्रकाश में बदल देते हैं।

उनके चिंतन में मौलिकता है, तीखापन है और माधुर्य भी है। उनके चिन्तन सूत्र जीवन के सत्यों को छूने वाले हैं, विचारों को झनझनाने वाले हैं, और मन को लुभाने वाले भी हैं। कुल मिलाकर उनके विचार मिश्री की वह डली है जो वजनदार होते हुए भी मधुर है और मधुर होते हुए भी प्रहारक है।

डायरी लिखने की एक विशिष्ट शैली है उनकी अपनी। कहीं चिन्तन सूत्र रूप में हैं तो कहीं भाष्य रूप में। कहीं उनका अपना स्वतंत्र चिन्तन है, तो कहीं किसी मनीषी के द्वारा अभिव्यक्त चिन्तन को भी उद्धृत कर शाश्वत सत्य का स्वागत कर लिया गया है। कहीं-कहीं मौलिक चिन्तन को सूत्र रूप में अंकित करते-करते, वे उसे किसी विशिष्ट चरित्र के माध्यम से भी अभिव्यक्त कर गए हैं। वस्तुतः उपाध्याय श्री जी की दैनन्दिनी फूलों की वह माला है, जिसमें अनेक विध रंग-बिरंगे फूल हैं, और हर फूल अपनी एक खास मोहक सुगन्ध लिए हुए है।

नया वर्ष आया, पुराना गया। पुराने के भाग्य में जाना लिखा है, वह अजर, अमर बनकर संसार में नहीं रह सकता। नये के भाग्य में आना लिखा है, संसार की कोई भी शक्ति उसे आने से रोक नहीं सकती।

जो व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र पुराने को छोड़ने का और नये का स्वागत करने का साहस रखते हैं, वे विश्व के इतिहास में अपना गौरवपूर्ण अध्याय लिखते हैं। नवीन मंगलमय है।

*

*

*

आज का बच्चा भविष्य का पिता है। उसके बनने पर भविष्य की प्रजा बनती है, और उसके बिगड़ने पर भविष्य की प्रजा बिगड़ती है।

*

*

*

सन्तान का बनना या बिगड़ना जितना उसके पिता पर निर्भर है, उससे असंख्य गुण अधिक उसकी माता पर निर्भर है।

*

*

*

माता अपनी संतान के भविष्य का निर्माण कब से करती है ?

एक समाजशास्त्री ने कहा है—जिस दिन वह उसके गर्भ में आती है, उसी दिन से। गर्भ से ही माता के अच्छे और बुरे विचारों की स्याही से सन्तान के संस्कारों का लेख लिखना प्रारम्भ हो जाता है। माता के विचार, आचार एवं व्यवहार ही संतान की जीवन-रेखाओं का निर्माण करता है।

*

*

*

किसी ने पूछा—बालक क्या है ?

उत्तर मिला—माता के चरित्र का प्रतिबिम्ब !

*

*

*

नारी का उद्धार मातृ शक्ति का उद्धार है, मातृ शक्ति का उद्धार भावी प्रजा का उद्धार है, भावी प्रजा का उद्धार प्रत्येक परिवार, समाज, राष्ट्र, धर्म और संस्कृति का उद्धार है ।

*

*

*

नारी राष्ट्रोत्थान के महल की पहली ईंट है । अतएव नारी सुधरी तो सब कुछ सुधरा, नारी बिगड़ी तो सब कुछ बिगड़ा । नारी की अवहेलना, मानवता की अवहेलना है ।

*

*

*

संस्कृत की एक सूक्ति-तारिका आज चिन्तन के क्षितिज पर जगमगा रही है । “अविवेकः परमापदां पदम्”—अविवेक विपत्तियों का भण्डार है, जीवन के हर एक क्षेत्र में विवेक जरूरी है । खाना, पीना, बोलना, सोना, यहाँ तक कि हँसी-मजाक भी विवेक-पूर्वक ही होना चाहिए । अविवेक नंगी तलवार है, कभी भी उससे विनाश का निमंत्रण आ सकता है । आज अखबार में एक खबर पढ़ी, कि साली के मजाक ने जीजा की जान ले ली । मध्य प्रदेश के बाँरा गाँव की घटना है । भोजन करके जीजा नीम के नीचे खाट बिछाकर आराम कर रहा था । साली ने आकर एक पैर में रस्सी बाँधकर उसे नीम के पेड़ से बाँध दिया, और दूसरे पैर की रस्सी बाँध दी भैंस से । और फिर साली ने मजाक के मूड में भैंस को डंडा मारा तो भैंस भागी और बेचारे जीजा की टांगें चिर गईं । वहीं जीवन-लीला समाप्त ।

कितनी दर्दनाक घटना ! अविवेक ने क्या से क्या कर दिखाया !

*

*

*

जीवन जितना दीखता है उतना ही नहीं है, वह अनन्त है । मनुष्य तात्कालिक क्षणिक लाभ के लिए जो लोभ, मोह, क्रोध, भय के चक्कर में पड़ता है, वह अपना अपघात करता है । अपघात करने पर ही अपघाती नहीं होता, प्रत्युत

जब-जब वह भव्य आदर्श से नीचे उतरता है, अपने जीकन-स्तर को नीचे गिराता है, तब-तब वह प्रत्येक क्षण अपना अपघात करता है ॥

*

*

*

एक विचारक ने कहा है—“शीलं परं भूषणम्”—“जीवन का भूषण शील-सदाचार है।” सदाचार क्या है? क्षमा, सहिष्णुता, सेवा और समर्पण ! हमारे जीवन के ये ही तो सच्चे शृंगार हैं ।

स्वीडन के राजा की बहन युजिनी ने अपने हीरे मोती के अलंकार बेचकर गरीबों के लिए एक दवाखाना खुलवाया ।

एक दिन युजिनी अपने दवाखाने में गई, उसने देखा कि एक रोगी रोग मुक्त होकर हँसता हुआ अपने घर जा रहा है । युजिनी को देखते ही उस गरीब की आँखों में आभार के आँसू झलक उठे ।

युजिनी ने मन ही मन कहा—“बे ही मेरे हीरे मोती के अलंकार हैं ।”

गरीब के चेहरे पर खेलती हुई प्रसन्नता की रेखा हमारे जीवन में स्वरिखा बन जाती है, यदि उस प्रसन्नता में हमारी सेवा का निर्मल निमित्त हो तो !

*

*

*

क्रोध राक्षस से भी भयंकर है । राक्षस तो दूसरों का ही रक्त पीता है, परन्तु क्रोध तो अपना और पराया—दोनों का रक्त पीता है । कहते हैं, राक्षस की उपस्थिति एवं प्रतीति रात्रि में होती है, परन्तु क्रोध की तो रात्रि और दिन दोनों समय ही नृत्य-क्रिया होती रहती है ।

तू देह नहीं, देहातीत आत्मा है । देह पुद्गल की है, सो पराई है । पराई वस्तु को अपना मत कह । पराई वस्तु को अपना बनाने का प्रयत्न करना चोरी है । किसी मित्र के घर में कुछ दिन के लिए आकर ठहरा है तो उस घर को अपना मत समझ ! सार सँभाल एवं सहानुभूति रखना और बात है, मगर अपना समझना भयंकर भूल है । अवसर आने पर प्रसन्नतापूर्वक घर छोड़ने को तैयार रह, वर्ना बेइज्जती से निकलना होगा, एक दिन निकलना तो होगा ही ।

पाँच भूतों का शरीर तेरा घर है । काल की सूचना आने पर प्रसन्नतापूर्वक उन्हें सौंप दे, और परलोक की यात्रा के लिए तैयार रह !

*

*

*

सुनो ! मैं तुम्हें तप का एक प्रत्यक्ष चमत्कार दिखाता हूँ । आज आकाश में बादल मंडराए हैं । गुरु गम्भीर गर्जन करते नील जलद कितने लुभावने हैं । यह घटा उमड़ कर आ रही है । जानते हो, अमृत समान मीठे जल की गागर भर कर कहीं से ला रही है वह ? जिस जल की धारा से धरती हरी-भरी हो जाती है, खेतों में धान लहलहा उठता है, प्यासे प्राण तृप्त हो जाते हैं, वह जल श्याम घटा के पास कहीं से आया है ?

दहकते जेठ के प्रचण्ड सूर्य की उत्तप्त किरणों के नीचे समुद्र ने अपना वक्षःस्थल खोल कर तपया था, अपनी बाँहें फैलाकर सूर्य की गर्मी को, उष्णता को अपने तन में समाया था । बस, इस कठोर तप ने ही उसके खारे जल को अमृत-समान मीठा बनाया, और बादलों को दिया । बादलों ने धरती को दिया, और धरती ने तप के प्रत्यक्ष चमत्कार की यह कहानी अपने नव-पल्लवों के माध्यम से हमें सुनाई है !

*

*

*

दर्पण के सामने क्या प्रतिबिम्बित होगा ? जैसा दृश्य सामने आएगा । यदि सिंह आएगा तो वह सिंह बन जाएगा, गीदड़ आएगा तो गीदड़ !

मन भी दर्पण है, इसलिए मन के सामने सदैव सदाचारी महापुरुषों के दिव्य स्वरूप को रखो । महान् आत्माओं की स्मृति मन को निर्मल बनाए रखने का अचूक दिव्य मंत्र है ।

*

*

*

एक व्यक्ति पहाड़ों का भ्रमण करके लौटा है, ऊँचे से ऊँचे पर्वत शिखर पर उसने चढ़ाई की है । कहता था कि पर्वत की चोटी पर खड़े होकर देखने से नीचे वाले (धरती पर चलने वाले) कुत्ते और बिल्ली जैसे दिखाई देते हैं । मैंने उससे पूछा, कि क्या नीचे वालों को भी वे (ऊपर वाले) कौआ और चील जैसे नहीं दिखाई देते ?

वह हँस पड़ा। मैंने कहा—जैसा चश्मा ऊपर वाले के पास है, याद रखो, वही चश्मा नीचे वाले के पास भी है।

*

*

*

एक श्रावक है, सुशिक्षित है। पूछने लगा—जीवन में किस महापुरुष की पूजा की जाय ?

मैंने उसे एक कहानी सुनाई—एक व्यक्ति ने 'लैला-मजनूँ' का प्रेम-काव्य पढ़ा। 'लैला' चरित्र उसे इतना प्रिय व रुचिकर लगा कि वह उस पर मुग्ध हो गया। उसने लैला की एक बड़ी तस्वीर अपने कमरे में टांग ली और प्रतिदिन उसकी पूजा करने लगा ! एक दिन उसका कोई मित्र आया, उसने यह सब नाटक देखा तो उसे समझाया—भाई, यदि तुम 'लैला' को प्यार करने वाले मजनूँ बनना चाहते हो, तो उसकी पूजा करने से कुछ नहीं होगा। मजनूँ के समान अपने प्रेम में तीव्रता जगाओ। एक निष्ठा पैदा करो। एक दिन अवश्य ही कोई 'लैला' तुम्हारे जीवन में भी उपस्थित हो जाएगी।

महापुरुष, बनने के लिए, महापुरुष की पूजा करने की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी कि महापुरुष के चरित्र को, उसके गुणों को जीवन में प्रकट करने की। जीवन में अपने आराध्य महापुरुष के समान ही उदात्त ध्येय, और कर्तव्यनिष्ठा जगाने की आवश्यकता है।

याद रखो, हमारी संस्कृति व्यक्ति-पूजक नहीं, गुण-पूजक है।

*

*

*

जो सुख-दुःख को जानता है, किन्तु उसके स्पर्श से मुक्त है, वह सिद्ध है।
जो सुख-दुःख को जानता है, उसका स्पर्श भी करता है, परन्तु उसकी वासना में नहीं फँसता, वह संत है।

जो सुख-दुःख को जानता है, स्पर्श भी करता है, और उसकी भावना में लीन हो जाता है, वह संसारी प्राणी है।

जो सुख-दुःख को जानता भी नहीं, उसका स्पर्श भी नहीं करता, वह जड़ है।

*

*

*

जैन दर्शन में मन की अपार शक्ति मानी है। वह भयंकर है, पौराणिक ब्रह्मास्त्र से भी बढ़कर भयंकर ! कर्म सिद्धान्त का एक विवेचन है कि आत्मा के साथ कर्म-बंध की क्या स्थिति है ? मात्र काययोग से मोहनीय जैसे कर्म का बंध उत्कृष्ट रूप में एक सागर की स्थिति का हो सकता है। वचन योग मिलते ही पच्चीस सागर की स्थिति का उत्कृष्ट बंध हो सकता है। घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका के मिलने पर पचास सागर, और चक्षु के मिलते ही सौ सागर की स्थिति बाँधने का सामर्थ्य हो जाता है। और जब असंज्ञी पंचेन्द्रिय की दशा में कान मिलते हैं, तो हजार सागर तक का बन्ध हो सकता है। अब देखिए, यदि मन मिल गया और उत्कृष्ट मोहनीय कर्म का बंध होने लगा तो वह लाख, करोड़, करोड़ों करोड़ सागर को पार कर जाता है। सत्तर कोटाकोटी सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट मोहनीय कर्म 'मन' मिलने पर ही बाँधा जा सकता है।

यह है मन की अपार शक्ति ! इसलिए मन को खुला छोड़ने से पहले मनन करो कि कहीं वह आत्मा को किसी गहन गर्त में तो नहीं धकेल रहा है ?

*

*

*

नियति को मानने से हर्ष और शोक का अन्तर्द्वन्द्व जीता जा सकता है। कार्य की सफलता का अभिमान और असफलता का दैन्य भी उससे हट सकता है। किन्तु एक जहरीली दवा की तरह उसका उपयोग बहुत सावधानी से करना चाहिए। नियति का गलत प्रयोग जीवन को निष्क्रिय, और पराश्रित बना देता है; अतः विकारों से निवृत्ति लाने में ही उसका उपयोग उचित है।

*

*

*

कौवा बड़ी तेजी के साथ पश्चिम से पूर्व की ओर उड़ता जा रहा था। एक कोयल ने देखा, तो सहसा पूछ ही बैठी—“चाचा ! कहाँ चल दिए ?”

“पूरब को जा रहा हूँ। यहाँ के लोग अच्छे नहीं हैं, मेरा रहना दूभर हो गया है।”

“क्यों ?” कोयल ने पूछा।

“यहाँ भरे गाने पर सभी को ऐतराज है। यहाँ के लोग संगीत का कुछ भी मूल्य नहीं समझते।”

“लेकिन, चाचा ! पूरब में जाने मात्र से तो तुम्हारी समस्या हल नहीं हो जाएगी ?”

“क्यों ?” कौवे ने साश्चर्य पूछा ।

“इसलिए कि जब तक तुम अपनी आवाज नहीं बदलते, पूरब वाले भी तुम्हारे गाने को इसी तरह नापसंद करेंगे ।”

स्थान नहीं, स्थिति बदलने में ही समस्या का सही समाधान है ।

*

*

*

वह देखो, सिंह सोया है, उसका सिंहत्व सो गया है । वन के क्षुद्र पशु कुलांचे मार कर दौड़ रहे हैं । लो, सिंह जाग उठा, उसका सिंहत्व भी जाग उठा । जागृत सिंह की गर्जना से समूचा वन प्रदेश प्रकम्पित हो गया, पशु-दल में भगदड़ मच गई !

तुम्हारी आत्मा का सिंह सोया है, तभी तो काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकारों का पशु-दल उछालें मारकर हू-हू करने लग गया है । जब वह सुप्त सिंह जाग उठेगा, तो विकारों का पशु-दल तुम्हारी मनोभूमि छोड़कर भाग खड़ा होगा ।

*

*

*

धर्म का धर्मत्व कहाँ है ? उसका ज्योतिर्मय तेज कहाँ है ? जहाँ व्यक्तिगत, जातिगत, समाजगत, सम्प्रदायगत, पंथगत और देशगत स्वार्थों एवं भेदों से ऊपर उठकर अखण्ड मानवता का मंगलमय दर्शन होता है, विश्व चेतना के साथ एकता की मधुर अनुभूति होती है ; वहाँ है धर्म का धर्मत्व ! वहाँ है धर्म का ज्योतिर्मय तेज !

*

*

*

एक सज्जन हैं, विनय और विवेक के धनी । लड़के की शादी करके लौटने लगे तो लड़की के पिता ने विनम्र भाव से हाथ जोड़कर निवेदन किया—“मैं लड़की वाला हूँ, मुझ पर कृपा रखना !”

लड़के के पिता ने उनके जुड़े हुए हाथों को अपनी हथेलियों में आबद्ध करके स्नेहसिक्त शब्दों में कहा—“जी, आप नहीं, मैं लड़की वाला हूँ। देखिए, लड़की मैंने ली, और लड़का आपने।”

*

*

*

हुमायूँ एक धर्म प्रेमी मुसलमान बादशाह था। उसके एक अन्तरंग सेवक जौहर ने हुमायूँ के संस्मरण फारसी में लिखे हैं। उनका अंग्रेजी अनुवाद मेजर चार्ल्स स्टुअर्ट ने 1904 में प्रकाशित किया। जौहर ने लिखा है कि एक बार हुमायूँ ईरान जा रहे थे। दिन भर चलने के बाद शाम को पड़ाव डाला तो खाने के लिए कुछ भी नहीं बचा था। खोज करने पर पता चला कि पास ही हुमायूँ के भाई कामरान का पड़ाव है, वहाँ से खाना मंगा लिया जाय। खाना आया, मांस था वह। खाने बैठे तो ध्यान आया कि गोमांस तो नहीं है? पूछने पर पता चला कि गोमांस ही है। हुमायूँ ने तुरन्त अपना हाथ खींच लिया; और कहा—“गोमांस तो हमारे पिता की कब्र को झाड़ने बुहारने वाले तक के लिए अनुचित है।” हुमायूँ ने वह रात एक गिलास शर्बत पी कर काटी !

हुमायूँ की इस दृढ़ निष्ठा और मनोबल से हमारे शासक वर्ग प्रेरणा ले सकते हैं।

*

*

*

प्यासा मनुष्य पानी की खोज में तपी हुई बालू पर भी भटकता है। ठीक यही दशा, ज्ञान-पिपासु आत्मा की भी है।

*

*

*

बुद्धिमान चतुर मनुष्य के होंठ राज-सभा के द्वार की तरह हैं; वे खुले नहीं कि अपार ऐश्वर्य मुस्कुराता सामने आया !

विवेकहीन मूर्ख मनुष्य का मुख साँप की बांबी के समान है, उसमें अंगुली डाली नहीं कि, दुर्वचनों का काला नाग फुंकार उठा !

*

*

*

क्या सूर्य कीचड़ को सुखाकर कड़ा नहीं कर देता ? क्या वह मोम को मुलायम नहीं बना देता ? जिस प्रकार एक ही सूर्य परस्पर विरोधी दो काम करता है उसी प्रकार साधक भी अपने मन को परस्पर विरोधी दो रूपों में ढालता है—कठोर और कोमल ! अपने दुःख में कठोर, और दूसरे के दुःख में कोमल ।

*

*

*

पुराने संत एक कहानी सुनाते हैं—किसी गड़रिए को बकरियाँ चराते हुए मणि मिल गई । गड़रिया उस मणि को, जिसे वह चमकीला पत्थर समझे हुए था, उछालता हुआ संध्या समय घर आ रहा था कि एक बनिया मिल गया । वह बोला—ला यह पत्थर मुझे दे । गड़रिए ने एक रुपया माँगा । बनिये ने कहा—आठ आने, ले ले ! बढ़ता-बढ़ता चौदह आने तक आ गया । गड़रिए ने नहीं दिया । बनिये ने सोचा—आज नहीं तो कल देगा, नहीं तो और कहाँ जाएगा ! गड़रिया आगे चल पड़ा । कुछ ही दूर पर दूसरा बनिया मिला । उसने कहा—अरे यह पत्थर तो मुझे चाहिए । गड़रिये ने एक रुपया माँगा । बनिये ने एक के बदले दो दे दिए । पहले बनिये ने देखा तो गड़रिये को बनाते हुए कहा—तू तो लुट गया ? मूर्ख कहीं का ! अरे वह तो 'मणि' थी । गड़रिये ने उत्तर दिया—मूर्ख मैं हूँ या तू ? तूने दो आने के लिए मणि गँवा दी । अब पछताने से क्या ?

सोचो, मणि मिली । एक ने अज्ञान से गँवा दी, दूसरे ने लोभ से ।

मानव-जीवन का महत्त्व जो नहीं जानते, वे अज्ञान गड़रिए हैं । जो जानकर भी विषय तृष्णा वश उसे गंवा रहे हैं, वे लोभी बनिये हैं ।

*

*

*

भक्तियोग का एक सिद्धान्त है कि—किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पहले उसे विराट् ईश्वर के चरणों में विनम्र भाव से अर्पित कर दिया जाय । जहाँ तक मैं समझता हूँ 'विराट् ईश्वर' का अर्थ किसी विशेष सत्ताधारी ईश्वर से नहीं, बल्कि सर्व-साधारण विराट् जनता जनार्दन से है ।

अपने श्रम और शक्ति के द्वारा यथावसर जनता जनार्दन की सेवा किए बिना प्राप्त साधन सामग्री का अकेले उपयोग करने का अधिकार किसी को भी नहीं है ; सस्नेह एवं सादर जनता जनार्दन को अर्पण करना ही वस्तुतः ईश्वरार्पण है ।

* * *

अपने और दूसरों के सुख की आधारशिला एक ही है, और वह है—संयम ।

जितना जितना संयम, उतना उतना सुख !

जितना जितना असंयम, उतना उतना दुःख !

* * *

सम्राट से पूछा—तुम्हारी शक्ति क्या है ?

उसने हाथ उठाया—अपने ऊँचे महलों, दुर्गम दुर्गों और विराट सेना की ओर ।

संत से पूछा—तुम्हारी शक्ति क्या है ?

उसने ऊपर हाथ उठाया, और वापिस मोड़ लिया, अपने हृदय की ओर !

पहला शक्ति के लिए बाहर का भिखारी है ।

दूसरा शक्ति के लिए एकमात्र अन्तरंग का स्वामी है ।

* * *

संत की तुलना सैनिक से की जाती है; किन्तु सैनिक एक संहार का प्रतीक है, और संत उद्धार का ।

सैनिक अपने को होमता है—दूसरों (शत्रु) के विनाश के लिए ।

संत अपने को होमता है—दूसरों (विश्व) के विकास के लिए ।

* * *

सावधान ! अपनी जबान पर विवेक की लगाम चढ़ा दो ! अपने होठों पर मौन का पहरा बिठा दो ! कहीं तुम्हारे शब्दों का घोड़ा ही तुम्हें अशान्ति और क्लेश के महागर्त में न गिरा दे ? ध्यान रखिए ।

❧

सच्चा मित्र वही ग्रंथों में,
जगत् श्रेष्ठ कहलाया है।
मैत्री के प्रण को जिसने,
'अथ' से 'इति' तलक निभाया है।
दुग्ध और जल-सी अभिन्नता,
जरा दुई का नाम नहीं।
प्रेम पंथ में स्वार्थ हलाहल—
का तो कुछ भी काम नहीं।

५

भूगोल के एक विद्यार्थी से आज बात चल रही थी। उसने कहा—समुद्रों ने संसार का विशाल भू-भाग व्यर्थ ही रोक रखा है। समुद्र का पानी भी खारा है, न पीने के काम आ सकता है, न सिंचाई के, इसीलिए इन्हें 'लवणाकर' कहते हैं।

मैंने उससे कहा—'लवणाकर' तो ठीक है, पर वह रत्नाकर भी तो है! यदि आदमी बुद्धि से काम ले, जागृत होकर चले तो उससे लाभ भी उठा सकता है। बहुमूल्य मोतियों का खजाना कहाँ मिलता है? अनुपम रत्नों का भंडार कहाँ छिपा है? यह सही है कि साधारण लोगों के लिए तो वह 'लवणाकर' ही है, किन्तु जो परिश्रमी हैं, साहस और विवेक से काम करते हैं, उनके लिए वह 'रत्नाकर' भी है।

यह जीवन भी समुद्र है। आलस्य और बुद्धिहीनता के शिकार होते रहे तो यह जीवन 'लवणाकर' के तुल्य निकम्मा लगेगा। मगर पुरुषार्थ और विवेक से काम लिया तो वही 'रत्नाकर' के समान अमूल्य खजाने का भंडार भी है।

*

*

*

दूसरे को गिरता देखकर जो अपने को संभाल कर चले, वह ज्ञानी है।

स्वयं एक बार गिरने के बाद, दूसरी बार सम्हलकर चले, वह अनुभवी है ।
जो बार-बार गिरने पर भी उन्मत्त बनकर चलता रहे, वह अज्ञानी है ।

*

*

*

एक सज्जन अपना अनुभव सुना रहे थे, कि वे एक बार तालाब के किनारे पर टहल रहे थे । अचानक एक बच्चा तालाब के किनारे खेलता-खेलता पाँव फिसल जाने से अन्दर गिर गया । रोने चिल्लाने लगा । उन्हें दया आई । खुद तैरना नहीं जानते थे, किंतु फिर भी उसे बचाने के भावावेश में तालाब में कूद पड़े । पर अब तो हालत और बुरी हो गई ? बच्चा तो हाथ नहीं आया, खुद डूबने लगे तो बेतहाशा हाथ पैर मारकर छटपटाने लगे । इतने में कुछ लोग आ गये और किसी तैराक ने दोनों को ही निकाल लिया ।

मैंने उनके अनुभव का भाष्य किया—जो स्वयं तैरना नहीं जानता है वह दूसरे को तिराने जाएगा, तो स्वयं भी डूबेगा और दूसरे को भी डूबो देगा । इसी प्रकार जो स्वयं नहीं सुधरा है वह दूसरों को सुधारने का प्रयत्न करेगा, तो वह स्वयं भी बिगड़ जाएगा और दूसरों को भी बिगाड़ देगा ।

*

*

*

मनुष्य के जीवन का आनन्द क्या है ? परोपकार ! कर्तव्य क्या है ?
परोपकार ! और ध्येय क्या है ? परोपकार !

कुछ लोग कहते हैं पराए दुःख से दुःखी होना एवं पराए सुख से सुखी होना—सत्पुरुष का लक्षण है । किन्तु मैं तो ऐसा नहीं समझता ! मेरे विचार से यह तो मानव मात्र का लक्षण है ।

अपने सुख में सुखी और अपने दुःख में दुःखी होना, यह तो मानव का क्या, जानवर का लक्षण है ।

समन्वय, सहयोग एवं सहानुभूति ही मानवता की त्रिवेणी है ।

*

*

*

हमारे समाज सुधारक नेतागण समाज-परिवर्तन की बात करते हैं, और वे चाहते हैं कि यह एकदम से जादू की छड़ी की तरह हो जाना चाहिए । मैं नहीं

समझता कि यह एकदम और एक ही व्यक्ति के द्वारा कैसे संभव हो सकेगा ? मेरी दृष्टि में समाज-सुधार की चार भूमिकाएँ हैं, और वे चार शक्तियों के द्वारा पूर्ण होनी चाहिए—

पहली बात है—परिस्थिति-परिवर्तन, यह काम सरकार द्वारा हो सकता है ।

दूसरी बात है—हृदय परिवर्तन, यह कार्य सन्तों द्वारा हो सकता है ।

तीसरी बात है—विचार-परिवर्तन, यह काम विचारकों व साहित्यकारों द्वारा हो सकता है ।

चौथी बात है—सेवा-कार्य, और यह काम समाज द्वारा हो सकता है ।

*

*

*

अनेकान्त एक टकसाल के समान है, जहाँ सत्य के भिन्न-भिन्न खंड, एक सांचे में ढलकर पूर्ण सत्य का आकार पाते हैं ।

जो हर घड़ी दूसरों के अवगुण ही देखता रहता है, और प्रत्येक क्षण पराई निन्दा में ही लगा रहता है, वह एक प्रकार का 'ब्लैक बोर्ड' को साफ करने वाला मैला डस्टर है ।

*

*

*

आत्मा एक विश्व-संस्था है, जो लोक कल्याणकारी शासन का संचालन करती है ।

*

*

*

एक सज्जन हैं, बड़े ठाठ से रहते हैं । कहीं बाहर निकलते हैं तो अवश्य एक नौकर साथ में लेकर । एक दिन दर्शन करने को आए । बात कुछ चल पड़ी, तो बोले—यह तो मेरा नौकर है ।

मैंने सोचा—मनुष्य को कितना अहंकार है कि वह अपने ही जैसे मनुष्य को अपना 'नौकर' (दास) समझता है । परन्तु वास्तव में मनुष्य, मनुष्य का दास कभी नहीं होता, वह तो धन का दास हुआ करता है, क्योंकि स्वामी और दास की कल्पना 'धन' के आधार पर ही टिकी है ।

*

*

*

एक नवयुवक बहुत जिज्ञासा वृत्ति वाला है। एक दिन पूछा उसने कि 'राम मर्यादा पुरुषोत्तम हुए हैं, वे सच्चरित्रता के एक महान जीवन्त आदर्श हैं। फिर सीता का नाम उनके नाम से पूर्व क्यों जोड़ा गया? 'सीताराम' की जगह 'रामसीता' कहें तो क्या हर्ज है?

मैंने उत्तर दिया—सीता का चरित्र राम से भी अधिक उज्ज्वल है, अधिक तेजस्वी है। सीता के चरित्र में सहिष्णुता और समर्पण का भाव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा है।

राम के आदेश से लक्ष्मण जब सीता को वन में छोड़कर लौटते हैं, तो सीता राम को एक संदेश भेजती है—

“मेरे स्वामी। तुमने मेरी कोई बात नहीं सुनी। मेरे पर लगाए आरोप के बारे में मुझे पूछा तक नहीं। किन्तु खैर अब मेरी एक अन्तिम बात है, और उसे तुम जरूर मानोगे—

**“भूयो यथा मे जननान्तरे पि
त्वमेव भर्ता, न च विप्रयोगः।”**

‘इस जन्म की तरह अगले जन्म में भी तुम्हीं मेरे स्वामी होना, किन्तु ऐसा वियोग मत दिखाना।’

इस स्थिति में साधारण मनुष्य क्या सोचता और सीता ने क्या सोचा, इसकी तुलना करो। अवश्य ही सीता के चरित्र की महानता तुम्हारी समझ में आएगी।

*

*

*

जीवन की महत्ता क्या है? इसे तुम नहीं समझ रहे हो, इसलिए दर-दर की ठोकरें खाकर अपना जीवन बर्बाद कर रहे हो, हीरे को कौड़ियों के मूल्य बेच रहे हो।

तुम्हारे मन का उत्साह खत्म हो गया है, इसलिए जीवन में तुम्हें कोई सुखद आशा नहीं रही है, और अपना विनाश करने पर तुल गए हो।

तुम भूल गए, नेताजी के जीवन की वह प्रेरणा, जिसने उन्हें नेताजी बनाया था।

सन् १९४० में जब नेता जी जेल से बाहर निकले तो कुछ भी सहयोग नहीं पा रहे थे, मन एक दम निराशा से भर गया। अपने आप को मिटा देने के लिए उन्होंने अनशन शुरू कर दिया। एक दिन उनका एक अंग्रेज मित्र, जो जेलर था, नेताजी से बोला—“मिस्टर बोस ! एक मरे हुए सिंह की अपेक्षा, एक जीवित गधे की कीमत ज्यादा है, यह सीधा सादा सत्य तुम कैसे भूल जाते हो ?”

बस ! ‘नेताजी’ के सिंहत्व को जगा दिया उसने और वह सिंह दहाड़ उठा। जीवन की महत्ता की इस महिमा पर गम्भीरता से विचार करो।

*

*

*

बाँट कर खाना किसने सिखाया ? भय और प्रेम ने।
लूट कर खाना किसने सिखाया ? भूख और बेसब्री ने।
बेईमानी करना किसने सिखाया ? आलस्य और फ़िज़ूलखर्ची ने।
कमाकर खाना किसने सिखाया ? अहंकार और आत्म-सम्मान ने।

*

*

*

सम्यक्त्वी आत्मा संसार में रहता है, पर संसार को अपना नहीं समझता ! परिवार, भोग, सुख, दुःख सबका अनुभव करते हुए भी अपने को उन सबसे अलग समझता है। सेठ का मुनीम, लाखों-करोड़ों का हिसाब रखता है, लेन-देन करता है; किन्तु उस धन को अपना धन नहीं समझता। जिस दिन उस धन को अपना समझा, तो समझ लो जेल के दरवाजे दूर नहीं हैं, हथकड़ियाँ पड़ने को ही हैं।

आत्मा जब पर को अपना समझ लेता है, तो संसार की कैद में फँस जाता है। ममत्व की हथकड़ियों में बँध जाता है।

*

*

*

मौन का क्या अर्थ है ? नहीं बोलना ! सामान्य मनुष्य यही अर्थ समझते हैं। पर यह अर्थ गलत तो नहीं, अधूरा है। मौन चार प्रकार का होता है। चारों प्रकारों का स्वरूप समझ लेने से मौन का सही और पूरा अर्थ समझ में आ जाएगा।

१. वाणी का मौन—चुप रहना, सावध वचन न बोलना।

२. मन का मौन—मन में विकल्प न उठाना, मन का इधर उधर न भटकना ।
 ३. काया का मौन—इन्द्रियों को चुप-शांत रखना, विषयों में प्रवृत्त न करना ।

४. आत्मा का मौन—समस्त पर भाव में मूक रहकर, आत्मभाव में लीन रहना ।

अन्तिम मौन सर्वोत्कृष्ट है । अपनी मौन साधना को, इसी ओर ले जाने का प्रयत्न होना चाहिए ।

*

*

*

एक सज्जन हैं, कुछ प्रौढ़ हो गए हैं ! बड़े रँगीले हैं । कभी बन ठनकर आते हैं तो कुछ मुँह लगे नवयुवक कहते हैं—जी, आप तो बुढ़ापे में भी जवानी के रँग ला रहे हैं । और कभी सीधे सादे ढंग से ही निकल आते हैं, तो भी उन्हें नहीं छोड़ते—बड़े कंजूस हैं । अपने शरीर के लिए भी एक नया पैसा खर्च नहीं करते ।

दुनिया का यही दस्तूर है । उसका वश चले, तो वह संसार में किसी को टिकने न दे । इस सन्दर्भ में एक कहानी है, मैं कभी-कभी सुनाया करता हूँ ।

एक वैष्णव महात्मा तीर्थ-यात्रा करने को चले । मार्ग में एक रात कहीं ठहरे, सोते समय पूर्व की ओर सिर करके सो गए । साथ का एक भक्त यात्री बोला—“अरे ! तुम इतने बड़े महात्मा होकर भी पश्चिम की ओर पाँव करके सोए हो ?”

महात्मा चौंक पड़े, पूछा—पश्चिम में क्या बात है ?

“संत होकर इतना भी नहीं जानते ? पश्चिम में द्वारका है, वहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं ।”

महात्मा ने अपना कान पकड़ लिया । अब पूर्व की ओर पाँव कर दिए, पश्चिम की ओर सिर ! वहीं बैठा हुआ कोई दूसरा यात्री बोल पड़ा—“अरे ! महात्मा जी, यह क्या करते हो ? पूर्व में भगवान् जगन्नाथ का धाम है । पूरब में पैर कभी नहीं करना चाहिए, पाप लगता है ।”

अब महात्मा ने उत्तर की ओर पैर कर दिए, तो तीसरे ने कहा—उत्तर दिशा में बदरीनारायण भगवान का तीर्थ है, उधर पैर नहीं करना चाहिए।

महात्मा के पैर अब दक्षिण की ओर घूम गए, तो चौथे सज्जन बोल पड़े—महात्मा जी ! इधर तो रामेश्वरम् है।

महात्मा हड़बड़ा गए। अब तो शीर्षासन लगा दिया, पैर ऊपर और सिर नीचे। किन्तु तब भी तो चैन नहीं। कहा एक यात्री ने—“ऊपर आकाश में सूर्य हैं, चन्द्र हैं, और सब देव हैं। भगवान विष्णु बैकुण्ठ में विराजमान हैं। उनकी तरफ पैर ! कैसा अज्ञान है ?”

महात्मा सीधे खड़े हो गए, तो भी लोग कहाँ चुप रहने वाले थे ? एक सज्जन बोले—नीचे शेषनाग हैं। उस पर भगवान विष्णु शयन करते हैं। उनकी तरफ पैर करना महान पातक है।

अब तो महात्मा चकराए और बोले—तुम लोगों में से किस-किस की बात मानूँ ! सब ओर देवी देवता हैं। बताओ, क्या करूँ और क्या न करूँ ?

दुनिया दुरंगी है। इसका समाधान होना असंभव है। हमें अपने विवेक की आँख खोलकर चलना चाहिए। दुनिया की बातों के चक्कर में फँस गए तो उससे उद्धार होना कठिन है।

*

*

*

जीव प्रत्येक समय नये कर्म बांध रहा है, और प्रत्येक समय पुराने कर्म भोग भी रहा है। भोगना तो निश्चित है, अपने वश का नहीं, है, वह अटक नहीं सकता। परंतु बंधन की क्रिया, अपने हाथ में है, उसे अटकाना चाहें तो अटका सकते हैं।

तू भोग की चिन्ता मत कर ! किन्तु जो नया बंध प्रति क्षण हो रहा है उसे रोकने का प्रयत्न कर ! मुक्ति का यही 'शार्टकट' (सीधा) रास्ता है !

*

*

*

राजाओं की कृपा बुरे कामों से भी खरीदी जा सकती है। यश और पदवियाँ धन से खरीदी जा सकती हैं। किंतु सच्ची प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए तो सेवा और सदाचार की पूरी कीमत चुकानी पड़ती है।

* * *

सद्गुण के सिवा सच्ची प्रतिष्ठा किसमें है ?

* * *

कुलीनता का निवास मनुष्य के हृदय में है।

* * *

शोक की जड़ कहाँ है ? आत्मा की दुर्बलता में।
उसे बल कहाँ से मिलता है ? मन की दीनता से।
उसके फल क्या हैं ? आँसू और मौत !

* * *

एक धनिक हीरे जवाहरात और कीमती वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर राजमार्ग पर से गुजर रहा था।

भीड़ में से एक व्यक्ति ने आगे बढ़कर धनिक व्यक्ति को उसके अलंकारों के लिए धन्यवाद दिया।

धनिक आश्चर्य से उसकी ओर देखने लग गया—“मैंने तो तुम्हें कुछ नहीं दिया, फिर धन्यवाद देने का अर्थ ?”

“जी, आपने मुझे जवाहरात देखने का मौका दिया, इससे ज्यादा आप दे भी क्या सकते थे ? आप भी तो सिर्फ देखते ही हैं। किंतु फर्क इतना ही है कि आपको इनकी रक्षा के लिए सदा चिंतित रहना पड़ता है, और मैं इस चिंता से मुक्त हूँ।”

जो मनुष्य धन को जमा करके किसी के पेट में नहीं, किन्तु अपनी पेटियों में भरते हैं, वे इस कहानी के व्यंग्य को समझें।

* * *

बात चलती है, तो पैसेन्जर गाड़ी की तरह अनेक स्टेशनों पर रुकती, ठहरती चलती है। एक दिन चर्चा चलती-चलती आ गई पुरानी और नई पीढ़ी पर ! और वह भी स्त्री जाति की पीढ़ी पर ! एक ने कहा—पुरानी स्त्री मोमबत्ती की तरह थी, खुद जलती, पर दूसरों को प्रकाश देती थी।

नई स्त्री जुगनू की तरह है, जो इधर-उधर उड़ती हुई अपनी चमक दिखाकर समाज में संध्रम पैदा करती रहती है।

*

*

*

उपवास के पारणे में जो आनन्द आता है, वह यह प्रकट करता है कि विषयों के प्रति अन्दर में जो मोह छिपा है वह उपवास से कम नहीं हुआ !

*

*

*

मक्खन किससे निकला ? छाछ (मट्टा) से ! एक बार अपना रूप लेने के बाद फिर उसे छाछ में कितना ही डालो, वह छाछ नहीं बनता।

सच्चे साधक का जीवन ऐसा ही होता है। वह संसारी जीवों में से आता है, पर एक बार साधक बन जाने के बाद, फिर भले ही संसारी जीवों में रहे, किन्तु पुनः संसारी नहीं बनता।

*

*

*

वृक्ष का मूल जमीन में रहता है, और शाखाएँ, पत्ते, फूल, फल बाहर विस्तृत आकाश में फैले रहते हैं।

साधु का व्यवहार जनता में (समाज में) फैला रहता है, किन्तु उसका मन तो अन्दर में ज्ञान ध्यान की गहराई में आबद्ध रहता है।

*

*

*

पक्षी हमेशा वृक्ष की ऊँचाई पर ही रहते हैं, किन्तु जब उन्हें दाना चुगना होता है तो नीचे जमीन पर उतरते हैं।

साधु अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए संसार की भूमिका से सम्बन्ध जोड़ते हैं, किन्तु उनका मन तो सदैव ज्ञान और भक्ति की ऊँचाई पर ही रहता है।

*

*

*

मिट्टी और लकड़ी के खिलौनों के रूप में आजकल तरह-तरह के सुन्दर फल और मिठाइयों की आकृतियाँ देखते हैं, पर क्या उनसे भूख मिट सकती है ?

संसार के मीठे और सुन्दर लगने वाले पौद्गलिक सुखों को भी उसी प्रकार समझो ! उनसे मन की परितृप्ति नहीं हो सकती ।

*

*

*

साबुन जब कपड़ों पर लगता है, तो उसमें सुन्दर झागों का गुब्बारा खड़ा हो जाता है । जिसमें तरह-तरह के रंग दिखाई देते हैं । पर क्या वे रंग सच्चे और स्थायी हैं ? इसी प्रकार वाचाल आदमी बातों के झाग बनाकर उनमें तरह-तरह के रंग चमका देता है, पर दूसरे ही क्षण वे समाप्त हो जाते हैं ।

*

*

*

बहुं सुणोहिं कन्नेहिं बहुं अच्छीहिं पिच्छइ ।

न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ ।

दशवैकालिक ८ । २०

साधक कानों से बहुत कुछ सुनता है, और आँखों से बहुत कुछ देखता भी है । किन्तु देखा सुना सब कुछ ही किसी के सामने कह डालना उचित नहीं है ।

५

मानव ! तेरे अन्तर में आनन्द का अनन्त निर्झर बह रहा है और तू बाहर भटक रहा है, एक-एक बूँद के लिए ! अनन्त-अनन्त जन्मों से पिपासा-कुल ! अशान्त और दिग्मूढ़ बना ! कैसा है यह विभ्रम ! !

बहिर्मुख चेतना बन्धन है, बन्धन में आनन्द कहाँ ? अन्तर्मुख चेतना मोक्ष है ! आत्मभाव की उपलब्धि, निजत्व की अनुभूति !

मानव ! अपने अन्दर में आ ! अन्तर्मुख चेतना का महान प्रकाश प्राप्त कर । आत्मा का अनन्त अमृतानन्द बाहर में नहीं, अन्तर में है ! !

*

*

*

मृत्यु भी एक कला है। आप आश्चर्य करेंगे कि मरने में भी क्या कला? हाँ, मरने में यदि कला नहीं रही तो पूरा जीवन ही व्यर्थ हो जाता है।

इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा है, जिन्होंने जीवन-भर के कर्तृत्वों को मृत्यु के व्यामोह में फँसकर अपमानित कर दिया। और ऐसी भी घटनाएँ हमारे सामने हैं जब किसी महान् उद्देश्य के लिए प्राणोत्सर्ग करके, किसी व्यक्ति ने समूचे जीवन-भर के अंधकार को प्रकाश-दीप बना दिया।

इसलिए मैं कहता हूँ—यदि पागल कुत्ते की तरह जीवन के भोग और स्वार्थों के पीछे दौड़ते-दौड़ते मरे तो क्या मरे?

जीवन के पवित्र एवं सात्विक संघर्षों में जूझते हुए, अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध करते हुए स्व या जन-जीवन के कल्याण के लिए मरे, तो वह कलापूर्ण मरना है।

जीने की कला से भी महत्त्वपूर्ण है मरने की कला!

*

*

*

वह मृत्यु कलापूर्ण मृत्यु है, जिसके उज्ज्वल प्रकाश-पथ पर मरने वाला हँसता हुआ चला जाए, और पीछे वाले उसकी याद में रोते रह जाएँ।

किसी महान् ध्येय की पूर्ति के लिए मरना मृत्यु-कला है। किसी शायर ने कहा है—

कहा यह पतंगे ने शमां पै चढ़कर
अजब मजा है, मरिए किसी के सर पै चढ़कर!

*

*

*

हृदय शुद्धि के काम में जो हार मान लेते हैं, उन्हें सचमुच मानवीय हृदय पर विश्वास नहीं है।

*

*

*

हम राजस्थान के उस प्रदेश में एक बार गए थे जहाँ लोगों के मन में भूत-प्रेत का विश्वास बहुत है। लोग कहते थे कि अन्धकाराच्छन्न रात को रास्ते में भूत घूमा करते हैं, यात्री को मार्ग के अगल-बगल में तरह-तरह के भय और प्रलोभन

दिखाकर उसे रास्ते से भटकाना चाहते हैं। यदि कोई रास्ता छोड़ कर इधर या उधर चला गया तो उसको खत्म कर डालते हैं। परन्तु जो रास्ता नहीं छोड़ता उस पर भूत-प्रेत का जोर नहीं चलता।

साधक के लिए देखें तो माया एवं प्रलोभन ही वह मायावी भूत है, जो नाना रूपों से साधक को मार्ग-भ्रष्ट करना चाहता है। जो साधक विवेक की ज्योति जलाए अविचल भाव के साथ अपने मार्ग में चलता रहता है, वह उसके चक्कर से बचकर अपने निश्चित लक्ष्य पर पहुँच सकता है और जो उसके मायावी रूपों में भटक गया, वह अपना विनाश कर बैठा।

*

*

*

लोभी मनुष्य वस्तुओं को अन्दर में कैद करके रखता है। पर उसे पता नहीं कि वह स्वयं भी उन कैदियों का कैदी है !

देह, इन्द्रियाँ, धन, मन आदि सब तुम्हारे कैदी हैं। और तुम हो कि इनके इशारों पर नाच रहे हो ? कैसी विडम्बना है ? कैदियों के कैदी बन गए।

सुख और स्वतन्त्रता चाहते हो, तो उन पर अधिकार रखो। उनसे काम लो। स्वामी बनकर रहो, सेवक बनकर नहीं।

*

*

*

हनुमान जी के मन्दिर में एक बुढ़िया ने प्रसाद बाँटा। पुजारी सबको प्रसाद बाँट रहा था। एक मिठाई के शौकीन भक्त ने अपने एक हाथ में मिठाई लेकर वह हाथ पीछे कर लिया, और दूसरा हाथ आगे बढ़ा दिया।

पुजारी ने उसकी चालाकी समझ ली। वह मिठाई बिना दिए ही आगे बढ़ गया। भक्त ने बड़ी लालसा से पहला हाथ मिठाई खाने को आगे की ओर किया तो देखा कि—उस हाथ की मिठाई कुत्ता खा चुका था। आखिर दोनों हाथ खाली।

आगम में जो कहा है—“लोहाओ दुहओ भयं” लोभ से दोनों ओर (दोनों लोक में) भय होता है। जिस हाथ में मिठाई है, उसे संग्रह वृत्ति के कुत्ते खा जाते

हैं, और जो हाथ लालसा से आगे बढ़ा है वह निराश होकर खाली लौट आता है। न इधर के रहे, न उधर के।

इसलिए लालच में मत फँसो। जो मिला है, उसे प्रसन्नतापूर्वक उपयोग में लो, और संतुष्ट रहो।

*

*

*

पारिवारिक कलह आज के समाज की विकट समस्या है। जीवन के आनन्द रस में वह एक जहर, उग्र जहर है कि समूचा आनन्द खत्म हो जाता है। आज एक धनी और विशाल परिवार के मुख्य सदस्य से बातें चल रही थीं। उनकी शिकायतों का कुल योग था, असहिष्णुता। सहनशीलता की कमी ही परिवार के सुख, आनन्द और संगठन के टुकड़े-टुकड़े कर रही है। मैंने उस मुखिया को एक पुरानी बात सुनाई—

सत्तरहवीं शताब्दी में जापान में ओ-चो-सान नाम का राजमंत्री हो गया है। कहा जाता है— एक हजार से भी अधिक सदस्य उसके परिवार में थे, प्रेम और सौहार्द्र के लिए वह जापान भर में विख्यात था। उसके लिए लोगों में यह कहावत चल पड़ी कि ओ-चो सान के घर का कुत्ता दूसरे कुत्तों की हड्डियाँ कभी नहीं चुराता।

एक बार सम्राट इस सौहार्द्र और प्रेम का रहस्य जानने के लिए बूढ़े राज-मंत्री के घर पर गए। सम्राट ने स्वागत के बाद पूछा—मैं वह महामंत्र जानने के लिए आया हूँ, जिसने इस एक हजार से भी अधिक व्यक्तियों वाले परिवार को अटूट स्नेह सम्बन्ध में बाँध रखा है।

बूढ़े राजमंत्री ने एक कागज लिया, कलम उठाई, काँपते हाथों से एक सौ शब्द लिखे और फिर सम्राट के सामने रख दिया।

सम्राट ने कागज को पढ़ा, तो उसमें सौ बार एक ही शब्द लिखा था—सहनशीलता ! सहनशीलता।

सम्राट चकित होकर देखता रहा। बूढ़े मंत्री ने कहा—“महाराज ! यही वह महामंत्र है, जिसने मेरे परिवार को एक धागे में बाँध रखा है।”

आज का समाज, बाप और बेटे, सास और बहू, पति और पत्नी यदि इस महामंत्र को समझ लें, तो अनेक समस्याएँ सहज ही सुलझ जाएँ ।

*

*

*

मिट्टी का दिया, जो प्रकाश फैला रहा है, वह क्या है ? तेल, बाती और लौ ! इनका योग ही तो प्रकाश है ।

मनुष्य जो ऐश्वर्य का अम्बार लगा रहा है, वह क्या है ? प्रारब्ध, प्रतिभा और पुरुषार्थ ! इनका संयोग ही तो वैभव और सुख का जनक है ।

*

*

*

मनुष्य के मन का विश्वास इतना नाजुक है कि यदि एक बार टूटा कि उसे सदा के लिए असन्तोष, निराशा और निष्क्रियता दबा बैठती है ।

*

*

*

तुम्हारा मुँह, उस जौहरी की तिजौरी है जिसमें बड़े कीमती जवाहरात भरे हैं । इसे खुला मत छोड़ो । बहुत ही जरूरत पड़ने पर खोलो और फिर तुरन्त बन्द कर दो ।

*

*

*

वचन और काय योग पर हठ योग चल सकता है, मन पर नहीं ! मन को तो समझा-बुझाकर ही अभ्यस्त करना पड़ेगा । उस पर राजयोग चलता है ।

*

*

*

विचारवान मनुष्य को अपने कर्तव्य-पथ के प्रति बार-बार शंका एवं तर्क हुआ करता है, और उसके समाधान में वह अपने को तदनुरूप ढालता जाता है ।

मूर्ख मनुष्य दुराग्रही होता है । उसे शंका एवं तर्क कभी नहीं होता । अपने अज्ञान को छोड़कर वह सब कुछ जानता है । अपने को बदलना उसके लिए असंभव है । मूर्ख के हृदय में विचार का तो जन्म ही नहीं होता ।

*

*

*

नारी ! तुम्हें पुरुष की विवेकशील सहचरी के रूप में नियुक्त किया गया है, उसके विकारों की दासी के रूप में नहीं ।

तुम्हारे अस्तित्व की इतिश्री केवल उसकी निःसार वासनाओं की तृप्ति में नहीं है, अपितु है, उसके जीवन की कठिनाइयों में सहायता देने में, अपनी कोमलता से संतोष देने में और मृदुल प्रेम भाव से उसकी चिंताएँ मिटाने में ।

*

*

*

वह कौन भाग्यशालिनी देवी है, जो मनुष्य के हृदय पर शासन करती है ? जिसकी आँखों में विनय, विवेक और कोमलता झलकती है । प्रेम बरसता है ।

विनम्रता, और आज्ञापालनता जिसके जीवन का पाठ है ।

जिसकी जिह्वा पर अमृत का वास है !

वह अपनी संतान के मन पर ज्ञान के संस्कार डालती है । अपने सद्-आचरणों के प्रतिबिम्ब स्वरूप उनके जीवन का निर्माण करती है ।

वह जैसे ही कर्तव्य कर्म के लिए इशारा करती है, तो नौकर झट दौड़ पड़ते हैं । संकेत मात्र उसका आदेश है । उसके प्रेम ने सबके हृदयों को बाँध रखा है ।

वह उत्कर्ष में घमंड से फूलती नहीं । विपत्ति में अपने भाग्य के घावों को धैर्य की मलहम पट्टी से अच्छा करती है ।

उसके परामर्श से पति के कष्ट हलके हो जाते हैं ।

पति के सुख दुःख में वह हिस्सेदार है ।

*

*

*

एक निरे शुष्क अध्यात्मवादी सज्जन कभी-कभी आते हैं । एक दिन चर्चा चल पड़ी, तो बोले—“जीवन में पाप की तरह पुण्य भी तो बन्धन है, अतः वह भी हेय है ।” मैंने कहा—“बन्धन जरूर है, किन्तु जब तक जीवन में अबन्धक स्थिति (चौदहवाँ गुणस्थान) नहीं आ जाती, पुण्य बन्ध चलता ही रहता है । उसे संकल्पपूर्वक छोड़ने की जरूरत नहीं ।

बोले—“जब आत्मा को बन्धन-कारक है तो छोड़ना ही होगा । इसलिए ज्यादा पुण्य भी नहीं करना चाहिए, उससे भी आत्मा भारी ही होती है ।”

मैंने कहा उनसे—“आप तो वैसी ही बात कर रहे हैं, जैसे कि किसी सेठ ने नौकर को लिफाफा डालने के लिए भेजा और कहा, शायद वजन ज्यादा है, इसलिए पोस्ट आफिस से पूछकर और टिकट चिपका देना।”

नौकर ने सोचा—“सेठ निरा मूर्ख है, इतना भी नहीं समझता कि भारी लिफाफे पर और टिकट लगाने से तो वह और भी भारी होगा।” बस, उसने होशियारी की। जो टिकट पहले लगे थे वे भी उतार दिए, और बैरंग लिफाफा डाक में डाल दिया।

यह ठीक है कि पुण्य का भी भार है, पर उसके बिना बैरंग लिफाफे की तरह जीवन का क्या मूल्य होगा ?

*

*

*

रसोई बनाने के लिए अग्नि जलानी पड़ती है। यदि जल जाने के भय से आग का पूर्ण बहिष्कार कर दिया तो कैसे खाना बनेगा ? इसका उपाय यही है कि अग्नि जलाने का तरीका सीखो, और सावधानी से काम लो।

आत्मा की मुक्ति के लिए पुण्य को तिलाञ्जलि देने से काम नहीं चलेगा। फिर तो सब सत्कर्म ही छूट जाएँगे, जीवन लड़खड़ा जाएगा। इसलिए पुण्य क्रिया का रहस्य समझो, उसमें आसक्ति और कामना मत रखो। ज्ञान और विवेक से पुण्य के बन्धत्व की समस्या हल करो।

*

*

*

पुण्य के दो भेद समझने के लिए एक उदाहरण है। दो धनी व्यक्तियों को पागल कुत्ते ने काट लिया। पागल होकर मरने की स्थिति का ध्यान रखते हुए शीघ्र ही दोनों ने अपने वसीयतनामे लिखे।

एक ने लिखा—पागल कुत्ते के दंश की पीड़ा से मरते हुए लोगों को बचाने के लिए मैं यह सम्पत्ति दान करता हूँ। इसका उपयोग पागल कुत्तों को मारने के लिए किया जाय।

दूसरे ने लिखा—इस प्रकार की पीड़ा से मरते हुए लोगों को बचाने के लिए मेरी समस्त सम्पत्ति का उपयोग किया जाय। उपयोग दो प्रकार से होना चाहिए।

(१) इस प्रकार शोध की जाय कि पागल कुत्तों का तुरन्त उपचार होकर वे स्वस्थ हो सकें ।

(२) पागल कुत्ते के काटे हुआओं के उपचार के लिए तुरन्त एक व्यवस्थित अस्पताल खोला जाय ।

वसीयतनामे को ध्यान से पढ़ने पर आप समझेंगे कि पहला पुण्य, पापानुबन्धी पुण्य है, और दूसरा पुण्यानुबन्धी पुण्य है ।

* * *

ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा श्रुत ज्ञान से होती है और स्फुरणा एवं प्रवृत्ति, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है ।

* * *

क्या आप महान बनना चाहते हैं ? जीवन यात्रा को सफलतापूर्वक गतिशील रखना चाहते हैं ? यदि वास्तव में आप चाहते हैं, तो इस महामन्त्र को जीवन के प्रत्येक चरण पर याद रखिए कि—मृत्यु तो जीवन का एक अध्याय मात्र है । उसके बिना जीवन-ग्रन्थ की पूर्णता नहीं हो सकती ।

* * *

तुम्हें अपने उचित मार्ग पर निरन्तर बढ़ते रहना चाहिए । कर्तव्य का पालन करते चलो, यश और नाम के पीछे मत दौड़ो ।

जानते हो न ? यश तो यथार्थ (कर्तव्य) की छाया है । वह तो यथार्थ के पीछे-पीछे कब से चला आ रहा है ?

* * *

तुम नाम के पीछे लटकते रहो, यह तुम्हारे लिए गौरव की बात नहीं । मंत्री अपने सचिवों के पीछे दौड़ता रहे, क्या उचित है ?

तुम्हारा गौरव इसी में है कि तुम अपने कर्तव्य-मार्ग पर चलते रहो, और नाम तुम्हारी तलाश में पीछे-पीछे दौड़ता रहे । समाचार आगे बढ़ते जायँ और खबरनवीश पीछे-पीछे दौड़ते रहें ।

* * *

‘चारित्र’ शब्द के मूल में जाएँ तो वह ‘चर’ धातु से निष्पन्न हुआ मिलता है । ‘चर’ का अर्थ है—‘गति’ । आत्मा स्वभाव से विभाव में गया हुआ है, उसे फिर से स्वभाव में लाना चारित्र है । ‘चारित्र’ शब्द का प्राकृत में एक रूप ‘चयरित्तं’ भी मिलता है, जिसका भाव है विभाव रूप चय से आत्मा को रिक्त अर्थात् खाली करना ।

‘चारित्र’ का पूर्ण रूप हुआ ‘स्वभाव में गमन’—‘विभाव का त्याग ।’

*

*

*

कषाय को क्षीण करने के दो उपाय हैं :

पहला उपाय है—कषाय के दोषों का दर्शन । भविष्य में कषाय के जो अशुभ परिणाम आते हैं उन पर चिन्तन करना, उन्हें समझना । यह उपाय तीव्र अवश्य है, किन्तु साधारण आत्माओं के लिए कठिन है ।

दूसरा उपाय है—कषाय में उपयोग न जाने देना, मन को दूसरे विषयों में लगाए रखना । यह उपाय मन्द है, यह साधारण आत्माओं के लिए भी सरल है ।

*

*

*

हजारों धर्म-ग्रन्थ और लाखों उपदेश से जो असर नहीं होता, वह असर कभी-कभी एक सच्चे आचरण से हो जाता है ।

घटना बंगाल की है । मल्लिक सेठ बहुत बड़े धार्मिक व्यक्ति थे । कभी झूठ नहीं बोलते थे । एक बार अपने चार जहाजों में माल भरकर समुद्र में जा रहे थे कि समुद्री डाकू चांचियों ने मध्यरात्रि में धावा बोलकर जहाजों को लूट लिया । चांचियों के सरदार ने पूछा—“सेठ ! अब तुम्हारे पास और क्या है ?”

“बस, अब मेरे पास और कुछ नहीं रहा ।”

चांचिये सब माल लेकर जाने की तैयारी करने लगे कि सेठ की नजर अँगूठी की तरफ गई । कम से कम दस हजार की अँगूठी होगी वह !

सेठ का मन ग्लानि से भर उठा—आज अनजाने में झूठ बोल दिया कि मेरे पास कुछ नहीं रहा । उसने सरदार को पुकारा—“लो, यह अँगूठी भूल से मेरे पास रह गई थी, लेते जाओ इसे भी ।”

सरदार ने अँगूठी हाथ में ली, घुमा-फिराकर देखा उसे । अब उसके भाव भी फिरने लगे, विचारधारा मोड़ खा गई—कहाँ यह सत्यवादी सेठ ! और कहाँ हम

पापी लुटेरे !! अपना सब कुछ चले जाने पर भी सेठ ने अपना सत्य नहीं छोड़ा, और कहाँ हम अपने पेट के लिए मानवता भी छोड़ देते हैं। डाका डालते हैं और हत्याएँ करते हैं ?

सरदार कुछ देर सोचता रहा, फिर सेठ के चरणों में गिर पड़ा। साथियों से कहा उसने—“सब माल लौटा दो। यह कच्चा पारा हजम नहीं हो सकेगा। इस सत्य देवता का माल हम नहीं पचा सकेंगे।”

चांचियों ने सेठ का माल लौटा दिया और साथ में अपना यह नीच कर्म भी सेठ के चरणों की सौगंध खाकर सदा-सदा के लिए त्याग दिया।

सेठ ने उस समय उपदेश नहीं दिया कि—यह तुम्हारे पाप का धंधा है, नरक का मार्ग है, छोड़ दो। किन्तु उसके सत्य आचरण ने वह चमत्कार दिखाया—जो लाखों करोड़ों उपदेशों से भी अधिक प्रभावशाली था।

*

*

*

आज संसार में चारों ओर कला की चर्चा है। कलाकारों की धूम है। पर क्या तुम जानते हो कि सबसे बड़ी कला क्या है? और कौन है सबसे बड़ा कलाकार ?

तुम्हारा अपना जीवन भी एक कला है। अच्छी तरह से जीना, प्रेम का रस बरसाते हुए जीना, विश्व को अपना बनाते हुए और अपने को विश्व का बनाते हुए जीना, यह है जीवन की कला। संसार की सबसे बड़ी कला। और जो इस प्रकार का कलापूर्ण जीवन जीना जानता है, अर्थात् कलापूर्ण ढंग से जीता है, वह है जीवन का सच्चा कलाकार ! संसार का सबसे बड़ा कलाकार।

*

*

*

अहिंसा नौका है। दुःख, वैर, आपत्तियों और क्लेशों के महासागर को यदि पार करना है तो इस नौका की शरण लेनी ही पड़ेगी। आगम में अहिंसा को तीर्थ माना है, इसलिए कि मानव जाति को दुःखों के सागर से उबारने वाली अहिंसा ही है।

*

*

*

जितना बड़ा चुम्बक होगा, वह उतने ही बड़े लौह-खण्ड को आकर्षित कर सकेगा ।

प्रेम का रूप जितना विराट होगा, वह उतने ही अधिक जन-जीवन को आकर्षित कर सकेगा ।

*

*

*

साधक वह है, जो वज्र के समान कठोर हो, तो कुसुम के समान कोमल भी हो ।

सिद्धान्त का प्रश्न आए, तो वह वज्र के समान कठोर एवं दृढ़ रहे । साहस और बलिदान की भावना से सीना तना रहे ।

और यदि व्यावहारिक अथवा व्यक्तिगत प्रसंग आए, तो पुष्प के समान कोमल रहे । प्रेम और सहानुभूति से मुस्कराता रहे ।

*

*

*

देख, तू अपने को पर्वत के समान सुन्दर बनाने का प्रयत्न मत कर ! पर्वत दूर से बहुत सुन्दर दिखाई देता है; किन्तु समीप आने पर वहाँ टेढ़े-मेढ़े पत्थरों और बेडौल चट्टानों के सिवा और कुछ नहीं मिलता ।

*

*

*

मानव ! युग तुझे बदले, इसकी अपेक्षा, क्या यह अच्छा नहीं कि तू ही युग को बदल दे ।

युग को बदलने वाला 'महामानव' होता है ।

युग के साथ बदलने वाला—'मानव' होता है ।

और जो युग के बदलने पर भी न बदले, वह 'मानव देहधारी पशु' ही होता है ।

*

*

*

एक श्रावक है । प्रारब्ध ने उनको पैसा तो बहुत दिया है, किन्तु सुख नहीं दिया । कई जगह दुकानें हैं, कितने ही भव्य बँगले हैं; किन्तु जब देखो तब इधर

उधर दौड़ते ही रहते हैं। जब भी आते हैं, कहते हैं—महाराज ! शान्ति नहीं। अपनी तकलीफों को सुनाते हैं, तो मैं सोचता हूँ कि धन की दौड़ में जो ऊपर की ओर देखकर दौड़ता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। सुख तभी मिल सकता है, जब प्राप्त स्थिति में ही सुख भोगने की कला सीख ली जाय और वह कला अपने से ऊपर वालों को देखने से नहीं, अपने से नीचे वालों को देखने से आती है। जरा और गहराई में उतरें तो अपने में देखने से आती है, इधर-उधर बाहर में देखने से नहीं।

*

*

*

पात्र बड़ा या पदार्थ ? क्या आप नहीं देखते कि अमृत तुल्य दूध भी खराब पात्र में पड़कर बिगड़ जाता है ?

पहले अपना हृदय पात्र शुद्ध करो, सत्पात्र बनो, तभी ज्ञान का शुद्ध दूध सुरक्षित रूप से टिक सकेगा !

५

युद्ध और युद्ध का इतिहास समाप्त करने के लिए सबसे पहला कदम यह है कि मनुष्य की अपनी छोटी-सी दुनिया में जो प्रतिक्षण युद्ध चल रहे हैं, उन्हें समाप्त किया जाय।

क्रोधी मनुष्य को विनयपूर्वक उत्तर देना, आग पर पानी डालने की तरह है। इस से क्रोध की अग्नि शान्त होती है। वह दुर्जन से सज्जन और शत्रु से मित्र बन जाता है।

*

*

*

क्रोध का आरम्भ या तो मूर्खता से होता है, या दुर्बलता से। किन्तु याद रखिए, उसका अन्त सदा पश्चात्ताप से ही होता है।

*

*

*

अपनी विनोद वृत्ति को इतना न बढ़ा कि मन उन्मत्त हो जाय; और न दुःख को इतना प्रबल होने दे कि हृदय ही दब जाय ।

*

*

*

उसे मृत्यु का क्या डर ? जिसने कभी कोई बुरा काम न किया हो । और उसके जीवन में आनन्द क्या ? जिसने कभी किसी की भलाई न की हो !

बुराई से भय, और भलाई से आनन्द,—जीवन का यही प्रशस्त नियम है ।

*

*

*

भय, विपत्ति का उत्पत्ति स्थान है । किन्तु जिसके पास आशाओं का पुल है, वह विपत्ति की महानदी को पार कर जाता है । इस पुल का एक छोर साहस पर टिका है, और दूसरा पुरुषार्थ पर ।

*

*

*

तर्क को अपनी समस्त इच्छाओं के आगे चला, पर उसे सम्भाव्यता की सीमा से आगे न बढ़ने दे ।

तुम दूसरों के दोष देख रहे हो, यह तुम्हारा अधिकार नहीं । किसी के घर में बिना उसकी अनुमति के चले जाना क्या उचित है ?

*

*

*

किसी की गलतियों को देख कर हँसना तुम्हारा काम नहीं । तुम उससे अपनी त्रुटियों को सुधारो ! और भविष्य के लिए अनुभव ग्रहण करो ।

*

*

*

कल जिसकी जरूरत है, उससे आज ही काम मत लो ।

*

*

*

अपने को दूसरों से ऊँचा समझना, और तुच्छ समझना—दोनों ही पाप हैं ।

*

*

*

सुप्रसिद्ध योगी आनन्दघन जी के पास रस कुष्पी की शीशी लिए हुए एक संन्यासी आया और बोला—इस रस की एक बूँद हजारों लाखों मन लोहे को सोना बना सकती है। मैं आपके लिए लाया हूँ।

आनन्दघन जी ने पूछा—क्या इसमें आत्मा है ?

आत्मा वात्मा की क्या बात करते हैं आप ? इसमें तो 'सिद्ध रस' है।

आनन्दघन जी ने ओलिया लहज़े में ही कहा—जिस में आत्मा नहीं वह चीज़ मेरे काम की नहीं।

संन्यासी ने कहा—मेरे गुरु बहुत बड़े सिद्ध पुरुष हैं। उनके जैसा दूसरा कोई योगी आज नहीं मिलता। मैंने तुम्हारे लिए ही उनकी सेवा करके यह चीज़ प्राप्त की है। इसे लौटाओ मत, किसी भक्त का उद्धार कर देना।

आनन्दघन जी ने शीशी अपने हाथ में ली, और जोर से एक पत्थर पर पटक दी। शीशी फूट गई, रस बह गया। और इधर संन्यासी की आँखें भी क्रोध से कुछ लाल हो गईं।

“यह जड़ रस दुल गया तो तुम क्रोध कर रहे हो ? परन्तु अपना आत्म-रस कहाँ दुल रहा है ? इसका भी कुछ विचार है ? आत्म-रस के आगे इस रस की कानी कोड़ी की भी कीमत नहीं ?”

“स्वर्ण सर्जक सिद्ध रस प्राप्त करने की शक्ति है आपके पास ?”

“तुम्हें चाहिए क्या ?”

आनन्दघन जी ने पास पड़े हुए शिलाखण्ड पर पेशाब किया तो वह सोने का बन गया। संन्यासी का क्रोध हवा हो गया—इतनी महान् शक्ति ! और इतनी सरलता ! न शक्ति का अभिमान है ! न प्रदर्शन !! संन्यासी आनन्दघन जी के चरणों में गिर पड़ा।

जिसने साधना में सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह कभी प्रसिद्धि की कामना नहीं करता ! जिसने पूर्णता का आनन्द ले लिया, वह क्षुद्र प्रदर्शन से संसार को लुभाना नहीं चाहता।

*

*

*

यह देखो, चन्दन के पांस में खड़े वृक्ष ! अन्य वृक्षों के समान ही हैं, किन्तु इनमें एक अजब सुगंध महक रही है ।

यह देखो, भगवद्भक्त ! दीखने में तुम्हारे जैसा ही है, किन्तु इसका अन्तर प्रभु-भक्ति की सुगन्ध से महक रहा है । तरोताजा बना हुआ है ।

बाह्य रूप को बदलने की जरूरत नहीं अन्तर हृदय को बदलो !

*

*

*

मछली यदि यह जान जाए कि बंसी के नीचे काँटा लगा हुआ है, तो क्या वह उसे निगलेगी ?

सिंह यदि यह ज्ञान ले कि यहाँ जाल है, तो क्या वह उसमें पड़ेगा ?

पर, आदमी है कि जान-बूझकर भी थोड़े से लालच के लिए अपने को आपत्तियों में डाल देता है ।

*

*

*

जहाँ लोभ का राज्य है, समझ लो कि वहाँ आत्मा दरिद्र है ।

*

*

*

क्या सद्गुण संपत्ति से भी अधिक कीमती नहीं है ?

क्या अपराध दरिद्रता की अपेक्षा अधिक अधम नहीं है ?

*

*

*

निन्दा को पचाना कठिन है, किन्तु उससे भी कठिन है प्रशंसा का पचाना ! प्रशंसा के दो शब्द मनुष्य को आत्मविस्मृत कर देते हैं; मनुष्य के अपने अस्तित्व को भुला देते हैं । मनुष्य में यही एक महान् कमी है ।

एक पौराणिक आख्यायिका है । एक बार किसी बहुत ही चतुर व कलाकार मनुष्य ने सोचा कि ऐसा कोई उपाय निकालें, कि मृत्यु आए तो खाली लौट जाये, अपने को पहचान न सके ?

बहुत ही सोच-समझकर उसने अपने समान बारह मूर्तियाँ बनाईं । एक जैसी थीं सब ! कुछ भी तो अन्तर नहीं ! एक दिन मरण काल में जब यमदूत उसे

अमर डायरी

45

लेने को आए, तो वह उन मूर्तियों के बीच में जाकर बैठ गया। यमदूत ने बहुत बारीकी से देखा-भाला, परन्तु असली आदमी को नहीं पहचान सका। वह लौट गया। यमराज से उसने सब बात कही, और कुछ तरकीब पूछकर वापिस आया। मूर्तियों को देखकर बोला—“वाह ! क्या कमाल की चतुरता है ? ऐसा कलाकार तो संसार में आज तक कोई नहीं हुआ ! कितनी सुन्दर मूर्तियाँ बनाई हैं ? परन्तु इतनी सुन्दर मूर्तियों में सिर्फ एक ही कमी रही है।

कलाकार अपना आपा भूल गया और बोल उठा—“वह क्या ?” यमदूत ने उसे पकड़ लिया, बोला—“बस यही कमी रही है।”

*

*

*

एक वैज्ञानिक ने बताया है कि आज के युद्ध का फार्मूला सिर्फ तीन अक्षरों में है। वह है ए+बी+सी (A. B. C.)

ए+एटम बम—अणुबम (अणुयुद्ध) भयंकर

बी+बैक्टिरियालोजी—कीटाणु (कीटाणु युद्ध) भयंकरतर

सी+केमिस्ट्री—रसायन, गैस (गैस युद्ध) भयंकरतम

इन तीन अक्षरों पर संसार का भविष्य टिका है।

*

*

*

एक दिन किसी ने कवीन्द्र रवीन्द्र से पूछा—“गुरुदेव, सत्य क्या है ?”

कवीन्द्र ने उत्तर दिया—“सत्य घोंसला है, और सत्य अनन्त आकाश है।”

उत्तर पर गहराई से विचार करने पर सत्य की सुन्दर और मार्मिक व्याख्या मिलेगी।

चिड़िया घोंसले से प्यार करती है। उसी ने उसका निर्माण किया है। जीवन के सपने देखे हैं। घोंसले में ही वह आनन्द मना रही है। किन्तु जब पौ फटने को होती है तो प्रकाश के दर्शन कर चिड़िया घोंसले से निकल पड़ती है। अनन्त आकाश में ऊँची उड़ानें भरकर आनन्द विभोर होती है। मस्ती से चहचहाती है।

सत्य के दोनों रूप शाश्वत हैं। एक व्यष्टि का, दूसरा समष्टि का।

चिड़िया—संसारी प्राणी है, उसने यह घोंसला (संसार) बनाया है। इसमें अपना मोह और स्नेह जोड़ा है। जब तक वह इस घोंसले में बैठा है एक सीमित परिधि में, और क्षणिक भोगों में अपने अनन्त रूप को भुलाए बैठा है।

सत्य का यह बाह्य रूप घोंसले तक ही सीमित है।

वस्तुतः सत्य तो अनन्त है। जब संसारी प्राणी (चिड़िया) काल लब्धि रूपी प्रभात वेला को पाता है, तो वह अनन्त सत्य की खोज में लम्बी उड़ान भरता है।

*

*

*

मन ही तन का मूल है। यही जगत का निर्माता है।

तुम्हारे ये सूक्ष्म शब्द भी शक्ति के महान् केन्द्र हैं। एक गाली देकर देखो कि क्या हाल होता है? किसी की प्रशंसा में दो शब्दों का उच्चारण करके भी देखो—कितना आदर और स्नेह मिलता है?

सुन्दर संकल्प करो। सुन्दर वचन बोलो। जैसे तुम्हारे विचार और वचन होंगे, जीवन वैसा ही बनेगा।

क्षुद्र विचारों के लिए मन का द्वार बन्द कर, उसे महान् विचारों के लिए खोलो। जैसा संकल्प वैसा संसार !

*

*

*

यदि घास फूस तेरा बिछौना है, तो बेखटके सो जा। किन्तु यदि गुलाब की सेज पर लेटता है, तो होशियार रह, वहाँ काँटे भी हैं।

*

*

*

ऐ संसार के धन-दुर्मदान्धो ! धन संग्रह की दौड़ लगाने से पहले अपने अन्तःकरण से इस प्रश्न का उत्तर पूछो कि—रावण की सोने की लंका कहाँ है ! महमूद गजनवी की दौलत कहाँ गड़ी हुई है ? महान् सिकन्दर की माया कहाँ सिमट गई ? और वह 'कारूँ' का खजाना, जिसकी चाबियाँ ही कभी चालीस ऊँटों पर लदती थीं; कहाँ लद गया ?

तुम, और तुम्हारा यह धन किस खेत की मूली है ? कितनी गहरी है इसकी जड़ ? सोचो, एक बार फिर सोचो !

कितनी सी नींद ! और कितना-सा सपना ?

चार दिन की जिन्दगी ! फिर लाखों वर्ष का सरंजाम, किसके लिए है ?

*

*

*

जहाँ सोना है, वहाँ रोना है । जहाँ मजा है वहाँ कज़ा (मृत्यु) है । जागो ! उठो !! और जीवन की लड़ाई लड़ो !

दुनिया के हर मज्रे पर लात मारने वाला ही एक दिन कज़ा पर (मृत्यु पर) विजय पा सकता है ।

*

*

*

संसार में तीन तरह के मुर्दे हैं;—एक प्राण शून्य; दूसरे ज्ञान शून्य, और तीसरे आचरण शून्य ।

प्राण शून्य मुर्दे जला दिए जाते हैं, बस बात खत्म हुई । परन्तु ज्ञान शून्य और आचरण शून्य मुर्दे संसार की छाती पर डंड पेल रहे हैं; जिनके कारण संसार हैरान है, परेशान है ।

*

*

*

देखिए, यह एक स्त्री अपनी पड़ोसिन स्त्री से लड़ रही है । गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रही है । इसका मुँह विकराल है, आँखें लाल हैं ! होंठ सूज रहे हैं, शरीर तीव्र वेग से कँप रहा है । पूरे घर को और पड़ोसियों को बेचैन कर रखा है । सर्वत्र अशान्ति और जहरीली हवा छा रही है ।

वह सामने इसकी पड़ोसिन है, शान्ति और प्रेम की मूर्ति । उसके चेहरे की प्रसन्नता और हँसी की एक रेखा सारे घर को हँसा रही है । स्नेह से सने हुए उसके शब्द घर में संगीत से गूँज रहे हैं । सर्वत्र शान्ति और आनन्द है ।

पहली क्रोध की प्रार्थना करती है, दूसरी प्रेम की । पहली अपने निकट वालों को क्रोध से भजती है । दूसरी अपने परिवार को स्नेह से भजती है ।

पहली जहर उगलती है । दूसरी अमृत बरसाती है ।

*

*

*

तुम्हें मैं एक ऐसे युवक की बात कह रहा हूँ, जो एक बार किसी अनाथ विधवाश्रम में सेवा के लिए प्रार्थना-पत्र लेकर गया। प्रौढ़ संचालिका ने उससे पूछा—

“आपका वेतन क्या होना चाहिए?”

“जो भी आप दे दें, मैं तो सेवा करने के लिए आया हूँ !”

“पत्नी है?”

“हाँ, मगर बीमार है, टी. बी. हो गई थी। इसलिए अपने पिता के घर पर है?”

“अब उसकी हालत कैसी है?”

“पता नहीं, मुझे गए हुए दो वर्ष हो गए !”

संचालिका ने गंभीर होकर कहा—“हमें आपकी सेवा की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी आपकी बीमार पत्नी को है। जो अपनी बीमार पत्नी की खबर तक नहीं ले सकता, वह इन गरीब बालाओं की स्नेहपूर्वक सेवा करेगा—इसकी आशा कैसे की जा सकती है?”

*

*

*

तुम अपने को भक्त कह रहे हो न? तुम्हारी भक्ति का रूप क्या है? क्या उसमें संतों के प्रति श्रद्धा है? प्रभु के प्रति समर्पण है? गुणी के प्रति आदर है? दरिद्र के प्रति सेवा भाव है?

मन्दिर या धर्म स्थान की ओर आँख मत उठाओ ! अपने अन्दर में देखो तुम्हारे में भक्ति का कौन-सा स्वरूप प्रकट हो रहा है—श्रद्धा, समर्पण, गुणानुराग या सेवा ?

*

*

*

गर्व क्या है ?

अपनी शक्तियों को वास्तविक से अधिक आँकना !

दीनता क्या है ?

अपनी छिपी शक्तियों को नहीं समझना !

*

*

*

चौथे गुणस्थान में भक्ति दशा (श्रद्धा) की मुख्यता है ।

पाँचवें, छठवें गुणस्थान में वैराग्य दशा की मुख्यता है ।

सातवें (अप्रमत्त संयत) गुण स्थान से लेकर तेरहवें (क्षीणमोह) गुणस्थान तक ज्ञान एवं वीतराग दशा की मुख्यता है ।

अल्पतम शब्दों में गुणस्थान क्रम का यह सारांश साधना का क्रमबद्ध विकास मंत्र है ।

*

*

*

“मैं किसी का उपकार कर रहा हूँ”—इस भावना से मुक्त होकर जो उपकार करता है वह उत्तम मनुष्य है ।

जो उपकार-बुद्धि से किसी की सहायता करता है, वह अधम मनुष्य है । जो प्रत्युपकार (बदले) की भावना से किसी की सहायता करता है, वह जघन्य मनुष्य है ।

जो सिर्फ अपने स्वार्थ या नाम के लिए ही किसी की सहायता करता है, वह अधमाधम मनुष्य है ।

और जो किसी भी उद्देश्य से किसी की भी सहायता नहीं करता; वह तो मनुष्य नहीं, पशु के समान है ।

*

*

*

व्यक्ति नहीं, व्यक्ति का आचरण मुख्य है । कागज में छपी आगम, त्रिपिटक या वेद की पुस्तक को भारतीय संस्कृति की आधारशिला नहीं माना जा सकता । वास्तव में किसी भी शास्त्र की पुस्तक भारतीय संस्कृति का आधार नहीं है, अपितु शास्त्र का बताया हुआ मार्ग ही आधार है ।

*

*

*

मातृभूमि के प्रेम के समक्ष मानव हृदय के सभी प्रेम और आकांक्षाएँ तुच्छ हैं। मातृभूमि स्वर्ग से भी महान् है।

बाल्मीकि रामायण में एक प्रकरण है। लंका विजय के बाद जब राम ने अयोध्या लौटने की तैयारी की, तो लक्ष्मण ने कहा—“यह सुवर्ण नगरी लंका छोड़कर अब हम अयोध्या जाकर क्या करेंगे ?”

इस पर राम ने गम्भीर भाव से कहा—

अपि स्वर्ण मयी लंका, न मे लक्ष्मण ! रोचते।

जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

—लक्ष्मण ! यह सोने की लंका मुझे अच्छी नहीं लग रही है। मुझे तो बस अपनी जन्मभूमि की याद आ रही है। जननी और जन्म-भूमि स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ है, अधिक महान् है।

*

*

*

आपत्ति एक विशाल आईना है। उसमें मनुष्य सिर्फ अपने को ही नहीं पहचानता, बल्कि, अपने मित्र और शत्रु को भी पहचान लेता है।

❧

संतों ने कहा—

“साधु भूखा भाव का, धन का भूखा नांहि
धन का भूखा जो फिरै, सो तो साधु नांहि
वाणी तो अनमोल है, जो ही जाने बोल
हीरा तो दामन बिकै, वाणी का नहीं मोल
जो कुत्ता दर दर फिरै, दर दर दुर-दुर होय
एक ही दर का हो रहे, दुर-दुर करै न कोय !”

❧

एक मनीषी ने, जैसा कि वह कहता है, कमल से पूछा—कीचड़ के दुर्गन्धमय वातावरण में रह कर भी तुम सदा सुगन्धमय कैसे रह लेते हो ?

कमल ने उत्तर दिया—ठीक उसी तरह, जिस तरह कि हमारे सुगन्धमय वातावरण में रह कर भी कीचड़ दुर्गन्धमय रह लेता है !

*

*

*

एक विचारक का कहना है कि मैंने आत्मा से पूछा—जड़ शरीर को धारण करती हुई भी तुम अपनी चेतना को अक्षुण्ण कैसे रख लेती हो ?

आत्मा ने उत्तर दिया—ठीक उसी तरह जिस तरह कि मुझे धारण करता हुआ भी शरीर अपनी जड़ता को अक्षुण्ण रख लेता है ।

*

*

*

जिनके जीवन में समय के अनुसार अपने को बदलने की लचक नहीं रहती, वे जड़ हो जाते हैं । समय उन्हें उठाकर फेंक देता है ।

*

*

*

उर्दू के एक शायर ने बहुत ही सुन्दर बात कही है—

हर गुहर ने सदफ़ को तोड़ दिया,
तू ही आमादा—ए—जहूर नहीं ।

ऐ मेरे भ्रान्त मोती ! जरा अपने आस पास तो देख । देख हर मोती ने अपनी सीपी को तोड़ दिया है, और वह मुक्त हो गया है, सिर्फ एक तू ही बच गया है, जो अपने आप को मुक्त एवं व्यक्त करने में हिचकिचा रहा है ।

*

*

*

क्या तुमने गुरु नानक के जीवन की वह बात सुनी है, जो उन्होंने हरिद्वार में गंगास्नान करके पितृतर्पण करते हुए अंध-श्रद्धालुओं को कही थी ?

गुरु ने देखा कि लोग गंगा में स्नान करते हुए पूर्व की ओर पानी फेंक रहे हैं, अपने मृतपूर्वजों को पानी देने के लिए । उन्होंने भी गंगा में प्रवेश किया और लगे पश्चिम की ओर पानी फेंकने ।

स्नान करने वाले भक्तों ने बड़े अचरज से पूछा कि—गुरु ! यह क्या कर रहे हैं ? नानक देव ने, हाथों से पानी फेंकना चालू रखते हुए उत्तर दिया—कि मैं अपने खेतों को पानी दे रहा हूँ, जो कि यहाँ से कुछ ही दूर पश्चिम में हैं ।

गंगा-भक्तों ने तीखे स्वर में कहा—यह कैसे संभव हो सकता है ?

नानक देव ने कहा—जब तुम्हारे द्वारा दिया गया पानी यहाँ से लाखों कोस दूर मृत पूर्वजों तक पहुँच सकता है, तब मेरा पानी यहाँ से कुछ ही दूर स्थित अपने खेतों तक क्यों नहीं पहुँच सकता ?

भक्त लोग चुप थे ! गुरु ने एक मार्मिक दृष्टि से देखा—तुम्हारे पितर इस पानी की अञ्जलि से तृप्त नहीं हो सकेंगे । उनकी तृप्ति के लिए सत्कर्म की अञ्जलि दो, सेवा और प्रेम की अञ्जलि दो ।

*

*

*

तुम भले ही आकाश में रहने वाले उस ईश्वर की सत्ता से इन्कार कर सकते हो, मगर उस ईश्वर की सत्ता से इन्कार नहीं कर सकते, जो जीवन के कण-कण में समाया हुआ है !

बात उस वक्त की बता रहा हूँ जब डा. राधाकृष्णन् मास्को में भारतीय राजदूत के पद पर थे । क्रेमलिन की एक सभा में वे भारतीय दर्शन पर बोल रहे थे, कुछ विद्वान व प्रोफेसर्स भी सामने बैठे थे । डा. राधाकृष्णन् ने उनसे पूछा—

“आप गॉड (ईश्वर) को नहीं मानते ?”

“नहीं, हम गॉड को नहीं मानते ।”

“आप ट्रुथ (सत्य) को मानते हैं ?”

“हाँ, मानते हैं !”

“आप ब्यूटी (सौन्दर्य) को मानते हैं ?”

“हाँ, उसे भी मानते हैं ।”

“आप गुडनैस (अच्छाई) को मानते हैं ?”

“हाँ, उसे तो हम मानते ही हैं ।”

क्रेमलिन वालों ने कहा ।

तब डा. राधाकृष्णन् बोले—“टुथ, ब्यूटी, और गुडनैस (सत्यं, शिवं, सुन्दरम्) यही तो गॉड है।”

यह सुनते ही सब लोगों ने एक स्वर से कहा कि—“यह अगर गॉड है, तो हम भी उसे मानते हैं !”

‘सत्यं, शिवं, सुन्दरम्’ जीवन का शाश्वत सत्य है। इस सत्य से इन्कार होने का अर्थ होगा—जीवन की सत्ता से ही यानी अपनी सत्ता से इन्कार होना। जीवन और जगत के कण-कण में, यही सत्य मुखरित हो रहा है, यही तो सच्चा ईश्वर है।

*

*

*

तुम अपने जीवन का खाता देखो, उसका हिसाब करो कि जीवन में क्या और कितना काल सार्थक हुआ है ?

अपने, बचपन, यौवन, निद्रा, निठल्लेपन और बीमारी का समय उसमें से निकाल दो ! और अब देखो कि सम्पूर्ण जीवन में, कितना काल वास्तव में उपयोगी रहा है ?

*

*

*

देखो, यह तिनके की ज्वाला सुलगते ही बुझ जाती है। बस, इसी प्रकार तुम्हारी भौतिक आनन्द की चमक भी क्षण भर में ही चली जाएगी।

*

*

*

सेमर का रंग बिरंगा फूल सामने की टहनी पर हँस रहा है ! उसकी यह नयन-मोहकता व्यर्थ है, क्योंकि उसमें सुगन्ध नहीं है।

जो मनुष्य बहुत ऊँचे पद पर बिठा दिया जाता है, किन्तु उसमें योग्यता नहीं है तो वह उस सुगन्ध-हीन फूल की तरह निरर्थक है।

*

*

*

जो अपनी जीभ पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह दूसरों पर क्या नियंत्रण कर सकेगा ?

अपनी जीभ पर नियंत्रण कर, संसार अपने आप तेरे नियंत्रण में रहेगा !

*

*

*

दूसरों को नीचा दिखाकर, ऊँचा होना, क्या ऊँचा होना है ? तू प्रतिस्पर्धियों से श्रेष्ठ बनकर ही अपने को ऊँचा उठाने का प्रयत्न कर !

यदि इस उच्चता की लड़ाई में सफलता न भी मिली तब भी सम्मान तो अवश्य प्राप्त होगा ही !

यदि ऊँचे तरीकों से उठने का प्रयत्न किया, तो एक-न-एक दिन अवश्य ही तू ऊँचा उठ सकेगा !

*

*

*

साधना के अमृत रस में क्रोध या अन्धकार का वही स्थान है, जो कि हलवे में कड़वे नीम का !

*

*

*

देखो यह गाँव के घूरे पर समूचे गाँव का कूड़ा-कचरा इकट्ठा हो रहा है, गन्दगी फैल रही है, बदबू के मारे दम घुट रहा है, और कितने कीड़े कुल-बुला रहे हैं।

अब उधर देखो, एक निन्दक के मनरूपी घूरे पर पूरे गाँव के पापों का कूड़ा-कचरा इकट्ठा हो गया है। उसमें असद् भावों की गंदगी फैल रही है, दुर्वचनों की दुर्गन्ध मार रही है और मात्सर्य तथा द्वेष के कीड़े कुल-बुला रहे हैं।

अपने मन को अच्छाइयों की खुशबू से भरा बगीचा नहीं बना सकते हो, तो कम से कम गाँव का घूरा तो मत बनाओ।

*

*

*

जो वास्तव में तत्वज्ञानी हैं, उनकी बातों में परस्पर विरोध नहीं हो सकता। सत्य तो एक ही है, भले ही वह भिन्न-भिन्न वाणियों के माध्यम से कितना ही क्यों न विभिन्न रूप से अभिव्यक्त हो। शब्द-शरीर भिन्न दीखते हुए भी उसकी आत्मा एक ही रहती है।

जहाँ सत्य में विरोध लगता हो वहाँ समझ लो सत्य को प्रकट करने वाला ही अधूरा ज्ञानी है। जो भ्रान्ति की बात कर रहा है वह स्वयं भी जरूर भ्रान्त होगा।

सन्त दादूदयाल ने इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है—
 'जे पहुँचे, ते पूछिए, तिनकी एके बात
 सब साथों का एक मत, बिचके बारह बाट ।'

*

*

*

जब हम अपने से दूर हट जाते हैं, तब हम अपनी चेतना का हाथ छोड़ कर, मरीचिका का हाथ पकड़ने के लिए भटकना शुरू कर देते हैं।

सुखान्त (कोमेडी) मार्ग वहीं हम से छूट जाता है, और हम दुःखान्त (ट्रेजेडी) मार्ग पर फिसलने लगते हैं।

*

*

*

कहा जाता है—यह सृष्टि शब्द (ॐ, या डमरू ध्वनि) में से उत्पन्न हुई है, इसलिए इसे 'शब्द-प्रसवा' कहा गया है।

पौराणिक रूप से यह 'शब्द प्रसवा' हो या न हो। किन्तु आज तो जरूर ही यह 'शब्द प्रसवा' है। एक ही शब्द में से लाखों विचार प्रवाह फूट रहे हैं, और वे विचार ही सृष्टि के उत्थान और विनाश का कारण बनते हैं।

*

*

*

ऐ मन ! तू तीन चीजों पर काबू रख ! फिर सब तेरे काबू में रहेंगे। स्वभाव पर, जीभ पर और चाल-चलन पर।

*

*

*

दृष्टि की चर्चा चल रही थी, कि यदि दृष्टि सम्यक् है तो वह पापश्रुत (असत् साहित्य) को भी सम्यक् श्रुत (सत्साहित्य) के रूप में परिणत कर लेती है। तभी पड़ोस में एक रिकार्ड बज उठा—

“तू कौन-सी बदली में, मेरे चाँद ऐ आज।”

मैंने कहा—यह श्रृंगार रस की पंक्ति भी हमारे में अध्यात्म की प्रेरणा जगा सकती है, यदि हम इसे अपने दृष्टिकोण से देखें तो।”

पूछा “कैसे ?”

मैंने बताया— बदली में—याने कर्मों के आवरण में ।

मेरे चांद—मेरी निर्मल आत्मा छिपी है ।

ऐ आजा—तू अब प्रकट हो जा ।

सम्यक् चेतना, उपयोग शक्ति कहती है—कि हे आत्मन् किस आवरण में छिपा है ? तू मेरे पास आ ! यानी शुद्ध ज्ञानोपयोग में आजा ।

तो बात यह है कि हम प्रत्येक वस्तु को स्वच्छ दृष्टि से देखें ।

*

*

*

जब नया विचार पुराने विचार से टकराकर आगे आता है, तो उसे फलने फूलने में बड़े संघर्ष झेलने पड़ते हैं ।

जब पुराने विचार का सहारा लेकर नया विचार आगे बढ़ता है, तो वह शीघ्र जनता के दिल और दिमाग पर छा जाता है । उसमें नये का स्वाद और पुराने की ताकत, दोनों होते हैं ।

नये और पुराने में तोड़ने का नहीं, जोड़ने का भाव होना चाहिए ।

*

*

*

योगियों की भाषा में नाद और वेद का बड़ा महत्त्व है । अन्तर्मन की समाधि अथवा (ध्यान) में जो निःशब्द अन्तर्मुख ध्वनियाँ टकराती हैं, उसे नाद कहा गया है । यह ध्यान का परिणाम है ।

और बाह्य सृष्टि के निरीक्षण से जो अनुभव प्राप्त होता है, वह है ज्ञान ! ज्ञान का परिणाम है वेद ।

ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया वेद है । अन्तर में लीन होने की प्रक्रिया ध्यान है ।

*

*

*

शुद्धि के बिना सच्ची कल्याणकारी शक्ति नहीं हो सकती । शक्तिशाली तो डाकू भी होता है, किन्तु उसकी शक्ति विनाश में लगी हुई है ।

*

*

*

अनुशासन शिक्षण का बुनियादी पत्थर है ।

अनुशासनपूर्ण वातावरण के बिना न कोई शिक्षण दिया जा सकता है, और न लिया जा सकता है ।

*

*

*

चोर चोरी करता है, यह कसूर चोर से ज्यादा उस समाज का है जो चोर को चोरी करने का प्रेरक एवं पोषक वातावरण तैयार करता है ।

चोर कानून के हाथों दण्डित होता है, और समाज स्वयं चोर के हाथों । पहले दण्ड समाज को भोगना पड़ता है, बाद में स्वयं चोर को ।

*

*

*

कहते हैं कि बादशाह जहाँगीर ने दुरसा नाम के चारण को उसकी विद्वत्ता के लिए बड़ा सम्मान दिया था । दुरसा चाँदी की पालकी में बैठ कर चलता था और हाथ में एक सोने का अंकुश भी रखता था ।

जब किसी ने इसका अभिप्राय पूछा तो दुरसा ने बताया कि जो वादविवाद में मुझसे हार जाएगा, उसे अपनी पालकी में जोत कर अंकुश से चलाऊँगा ।

यदि कोई आप को जीत आए तो ?

तो उसे पालकी में बिठाकर अंकुश भेंट करूँगा, और अपना गुरु बना लूँगा ।

एक बार दुरसा ने सन्त रज्जब जी के सामने एक दोहा पढ़ा—

**“मुख अक्षर मुख सप्त स्वर, मुख भाषा छत्तीस
एतै ऊपर जो कथै, तो जानों सुकवीस।”**

रज्जब जी ने इसके उत्तर में तुरन्त यह दोहा कहा—

**“मुख अक्षर मुख सप्त स्वर, मुख भाषा छत्तीस
एते ऊपर उर भजन, अन अक्षर जगदीस”**

दोहा सुनते ही दुरसा पालकी से उतर पड़ा और रज्जब जी के चरणों में अपना अंकुश रख कर उनका शिष्य बन गया ।

ज्ञान के सामने अभिमान नहीं टिक सकता । जब मनुष्य को अपने अज्ञान का भान हो जाता है तभी वह सच्चा ज्ञानी बनता है । और ज्ञान मिला कि अभिमान गायब !

*

*

*

सन्त विनोबा ने कहा है “तुम्हारे घर पर आया हुआ अतिथि समाज का प्रतिनिधि है । अतिथि के रूप में समाज तुम्हारी सेवा माँग रहा है ।”

समाज तो अव्यक्त है, वह ‘अतिथि देव’ के रूप में ही तुम्हारे सामने व्यक्त होना चाहता है ।

अव्यक्त समाज की व्यक्त मूर्ति—अतिथि है ।

अतिथि की तरह दीन दुःखी रोगी की सेवा करना भी अतिथि-पूजा अर्थात् समाज-पूजा है । समाज के अंग की सेवा है ।

*

*

*

तुम मृत्यु से क्यों डरते हो ?

मृत्यु दुःख रूप नहीं; सुख रूप है । जिन दुःखों से निकटतम सगे स्नेही नहीं छुड़ा सकते उन दुःखों से मृत्यु छुड़ा देती है ।

विनोबाजी की दृष्टि में मृत्यु के दुःख वस्तुतः जीवन के ही दुःख हैं ।

रोग, मृत्यु के कारण नहीं, जीवन में असंयम के कारण होता है, संपत्ति और स्वजनों को छोड़ने का दुःख, मृत्यु के कारण नहीं, आसक्ति के कारण है । मृत्यु के बाद क्या होगा, यह भय भी अज्ञान-जनित है ।

इसलिए मृत्यु से डरो नहीं; कलात्मक ढंग से उसे स्वीकार करो, वह सुख का कारण बनेगी !

*

*

*

मरणकाल के कुछ दुःख चार प्रकार के हैं—शरीर, बेदनात्मक, पाप स्मरणात्मक, सुहृद मोहात्मक, और भावी चिन्तात्मक ।

यदि प्रारम्भ से ही सतर्कता रखी जाए, तो चार उपायों से इनका निराकरण किय जा सकता है : कठोर संयम से, धर्म आचरण से, निष्काम भाव से, और ईश्वर के प्रति श्रद्धा (आत्मविश्वास) से ।

*

*

*

उद्योग, प्रयोग और योग—यही साधक के जीवन का संक्षिप्त स्वरूप है ।

*

*

*

हर किसी से हल ढूँढ़ने की अपेक्षा, हर कोई अपना-अपना हल खुद ढूँढ़ले तो अच्छा है, इसमें बुद्धि का विकास भी है, और समस्या का समाधान भी ।

४

‘जिन’ कोई व्यक्ति वाचक संज्ञा नहीं है । यह तो एक पद है, जिसे विश्व का कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है ।

जो मन के रागद्वेष रूप बन्धनों से, स्वयं मुक्त हो सकता है, और दूसरों को मुक्त होने की प्रेरणा दे सकता है, मुक्ति का सीधा मार्ग बता सकता है, वह आत्मा ‘जिन’ हो सकती है ।

*

*

*

जो व्यक्ति छोटे-छोटे नगण्य प्रलोभनों के समक्ष अपने शुभ संकल्पों की बलि चढ़ा देता है, अपने निश्चयों की हत्या कर डालता है, समझ लो वह जीवन में कभी कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता ।

*

*

*

यदि किसी महत्वपूर्ण ध्येय की पूर्ति के लिए तुम्हारी मृत्यु आवश्यक है, तो, मृत्यु को खेल समझकर आगे बढ़ जाओ ! तुम हँसो ! खूब हँसो ! मुख मण्डल पर मुस्कराहट की वह दिव्य ज्योति बिखेर दो कि मृत्यु स्वयं लज्जित हो उठे ।

इस प्रकार तुम मर कर भी अमर बन जाओगे ।
 वह मरना ही क्या, जो, दूसरों को भी उसी प्रकार मरने की सहज प्रेरणा न दे ।
 अपनी मृत्यु से कर्तव्य मार्ग पर वह स्वर्ण रेखा खींच डालो कि आने वाली
 पीढ़ी उसी रेखा (लकीर) के सहारे आगे बढ़ सके ।

*

*

*

प्रेम और सेवा के क्षेत्र में किसी प्रकार की सीमा नहीं होती । बन्धन और भेद
 नहीं होते ।

देश, जाति और धर्म की सीमा बाँधकर उसकी महानता का अपमान मत
 करो । उसकी पवित्रता को कलंकित मत करो ।

सीमित स्नेह—‘मोह’ होता है । असीम स्नेह—‘प्रेम ।’

मोह और प्रेम की भेद रेखा को समझ कर कर्तव्य का निर्णय करो ।

*

*

*

अपसाहस या दुस्साहस पशुता है, सत्साहस मानवता ।

साहस में जब विवेक का पुट लगता है, तब वह सत्यसाहस कहलाता है ।

*

*

*

जीवन में धन और वैभव होना ही सब कुछ नहीं है । जीवन में यदि प्रेम की
 सरसता नहीं मिली है, तो, धन वैभव बिना ममक की रोटी की तरह स्वादहीन है ।

एक बार अमेरिका के प्रख्यात धन कुबेर और फोर्ड मोटर कंपनी के मालिक
 हेनरी फोर्ड से एक जिज्ञासु विद्यार्थी ने पूछा—“आपके घर में ऐश्वर्य का अम्बार
 लगा है, जो चाहे वह प्राप्त कर सकते हैं, तो क्या वस्तुतः अब आपको जीवन में
 किसी चीज की कमी खटकती है ?”

फोर्ड ने कहा—“हाँ भाई, श्रीमान् होने के बाद मुझे एक चीज की कमी बेहद
 खटकती है ।”

वह क्या..... ?

यह कि मेरी प्रेमल पत्नी के हाथ की बनी रसोई अब मुझे खाने को नहीं मिलती ।

धन ने मानवीय श्रम का मूल्य कम कर दिया और उसके साथ श्रम में छुपा आत्मीय प्रेम भी अब दुर्लभ हो गया ।

*

*

*

भारतीय परम्परा में अतिथि को देवता के रूप में माना है । अतिथि सेवा और अतिथि सत्कार में अतिथि के किसी भी जाति या कुल आदि के विशेषण को नहीं देखा जाता, किन्तु आतिथ्य ग्रहण करने वाले के एकमात्र आत्म रूप को ही देखा जाता है ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का एक संस्मरण है कि एक बार उनके यहाँ कोई साधारण लेखक मिलने के लिए आया ।

द्विवेदी जी ने उसे भोजन के लिए बैठाया और स्वयं पंखा झलने लगे ।

नवीन लेखक ने शर्माकर कहा—“आप बड़े होकर पंखा झलेंगे तो मुझसे खाया नहीं जायगा ।”

द्विवेदी जी ने कहा—“मित्र ! इस समय तो तुम मुझसे बड़े हो, क्योंकि तुम मेरे अतिथि हो ।”

*

*

*

संग्रह बुद्धि से किया गया संग्रह, संसार को नरक बनाता है ।

वितरण बुद्धि से किया संग्रह, संसार को स्वर्ग बनाता है ।

धन को बटोर-बटोर कर संग्रह करते जाना, एक बड़ी बुराई है । और दूसरी इससे भी बड़ी बुराई है—धन को बुरे कर्मों में खर्च करना । ‘एक करैला, दूसरे नीम चढ़ा,—वाली कहावत यहाँ चरितार्थ होती है ।

*

*

*

दरिद्रता में यदि एक ही गुण, धैर्य है, तो वह मनुष्य को दरिद्रता से उबार सकता है ।

धनाढ्यता में यदि संयम, दानशीलता, दयालुता तथा ऐसे ही कुछ दूसरे गुण नहीं हैं, तो वह धनाढ्यता मनुष्य को पतन के गहरे गर्त में ले जाती है ।

*

*

*

तुम्हारी आत्मा को जितना सुख दूसरे को सुख प्रदान करते समय मिलता है, शायद उतना किसी दूसरे काम में नहीं मिलता होगा ?

यदि यह उत्तर ठीक है, तो तुम वास्तव में ही मनुष्य हो ।

*

*

*

तुम उन्नति चाहते हो ? उन्नति के साधनों की खोज कर रहे हो ? तो, लो मैं तुम्हें उन्नति का एक स्वर्ण-सूत्र बतला रहा हूँ ।

बादशाह बनने के बाद किसी ने हसन से पूछा—“आपके पास न तो पर्याप्त धन था और न सेना ही थी, फिर आप सुलतान कैसे बन गए—?”

हसन ने उत्तर दिया—मेरे पास तो बहुत साधन थे !

क्या—?”

“मित्रों के प्रति सच्चा प्रेम, शत्रु के प्रति उदारता और प्रत्येक मनुष्य के प्रति सद्भाव—क्या इतनी साधन सामग्री सुलतान बनने के लिए काफी नहीं है—?”

हसन का यह स्वर्ण-सूत्र तुम्हारी उन्नति का सोपान बन सकता है ।

*

*

*

एक कवि ने सच्चे मित्र का लक्षण बतलाया है—

“उदय अस्त में एक-सा, है जिसका व्यवहार

वही मित्र सूरज मुखी, कर सकता है प्यार”

अपने मित्रों को इस कसौटी पर कस कर देखो, और स्वयं को भी ।

*

*

*

तुम्हें प्रारब्ध से जो साधन सामग्री प्राप्त हुई है उसका उपयोग करो, उपभोग नहीं ।

उपयोग में मात्र आवश्यकता पूर्ति का भाव रहता है, उपभोग में आसक्ति का ।

उपयोग में समाज के हितों की सुरक्षा है, उपभोग में सिर्फ व्यक्तिगत लालसाओं की दौड़ है ।

उपयोग करना नैतिक है । उपभोग करना अनैतिक !

उपभोग सामाजिक अधिकार है । उपभोग समाज के साथ द्रोह है ।

*

*

*

मैं देख रहा हूँ तुम्हारे जीवन के दामन में दुःखों के काँटे उलझ रहे हैं । इसका कारण क्या है ?

कारण एक ही है—तुम्हारी विलास प्रधान मनोवृत्ति ।

तुम कब से संग्रह की ओर दौड़ रहे हो । त्याग की बात भी नहीं समझते । संग्रह में ही आनन्द और सुख मिलता तो संसार त्यागियों के समक्ष कभी अपना सिर नहीं झुकाता ।

संग्रह सदा से विग्रह को जन्म देता आया है । सुना है तुमने उस संन्यासी का अनुभव ।

एक बार एक संन्यासी गाँव में से निकले । जाते हुए मार्ग में देखा कि एक कुत्ता मुँह में रक्त से सनी हड्डी दबाए हुए बेतहाशा दौड़ रहा है और उसके पीछे पाँच सात कुत्ते लपकते हुए जा रहे हैं ।

आगे जिस मोहल्ले में वह पहुँचा, वहाँ के कुत्तों ने भी उसके मुँह में हड्डी देखी और उसे घेर लिया ।

सब झपट पड़े उसके ऊपर । दबोच लिया उसको, जगह-जगह से नोच डाला, खून बहने लगा ।

कुत्ते ने आखिर हड्डी का टुकड़ा छोड़ा और अपनी जान बचा कर भागा । संन्यासी ने विचार किया—कुत्ते ने हड्डी मुँह में पकड़े रखी तभी तक दूसरे कुत्ते उसकी जान पर टूट रहे थे । हड्डी मुँह से छोड़ी तो जान बची । संसार में जितने भी संघर्ष हैं, लड़ाइयाँ हैं, सब इसी हड्डी के टुकड़े के लिए हैं ।

तुम धन सम्पत्ति के टुकड़े को यदि अकेले ही खाने की कोशिश करोगे, तब दूसरे भी झपटेंगे, संघर्ष होगा, लड़ाइयाँ होंगी ।

बस, और कुछ नहीं, टुकड़े का मोह छोड़ दो, संघर्ष खत्म !
संग्रह में संघर्ष है । त्याग में सुख है ।

* * *

त्यागमय साधु जीवन में भोग बुद्धि का होना वैसा ही है, जैसा कि लँगोटी लगाकर सिर पर मुकुट पहनना ।

* * *

सत्कर्म करने के बाद जीभ को लम्बी न होने दो । जहाँ तक हो सके, उसे छोटी रखो, या फिर रहने ही न दो ।

लम्बी जीभ अपने किए सत्कर्म का बखान करती है, और इस प्रकार वह अपने सत्कर्म का गला घोट देती है ।

* * *

इस वट वृक्ष को देखो, जिसकी शाखाएँ अब आकाश को छू रही हैं ।

यह किसी दिन पृथ्वी के गर्भ में एक छोटे से बीज के रूप में मुँह छिपाये पड़ा था ।

अपनी वर्तमान तुच्छता से लज्जित हो कर सदा के लिए अपने को हीन मानने वाले इस विशाल वट की ओर देखें ।

अपने विराट अस्तित्व को समझो अपने को विस्तृत बनाओ और महानता की ओर बढ़ो ।

उच्च भविष्य का स्वप्न देखने वाले, और उसी की ओर मस्तक उठा कर चलने वाले महान हुए बिना रह नहीं सकते ।

* * *

सत्कार्य में किसी को अपने से आगे न बढ़ने दे । किन्तु दूसरों की योग्यता और गुणों से द्वेष न कर, अपितु स्वयं अपने सत्प्रयत्नों को तीव्र कर, अपनी बुद्धि का विकास कर आगे बढ़ना चाहिए ।

*

*

*

सत्त्विक ईर्ष्या में मनुष्य की वृत्तियाँ उच्च होती हैं; उसमें आगे बढ़ने की स्पर्धा रहती है ।

तामसिक ईर्ष्या में मनुष्य की वृत्तियाँ नीच होती हैं उसमें बराबर के साथी को पछाड़ने का मात्सर्य रहता है ।

पहली वृत्ति में मन के उत्साह और साहस के दर्शन होते हैं । दूसरी वृत्ति में मन की दुर्बलता और हीनता पर धूर्तता का नकाब डाल कर छिपाने का प्रयत्न होता है ।

*

*

*

संत कबीर ने एक जगह कहा है—

“मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय ।

पीर पैगम्बर ओलिया, झीनी सबनि को खाय ॥”

यह झीनी माया क्या है ? ‘मताग्रह’ । संसार का मोह छोड़ कर संप्रदाय के मोह में डूब गए..... ? मत और सम्प्रदाय का मोह अहंकार पैदा करता है, और वह सूक्ष्म अहंकार, संसार का त्याग करने पर भी सच्चा त्यागी नहीं बनने देता ।

जैन दर्शन ने धन संपत्ति को स्थूल परिग्रह (मोटी माया) माना है । और राग-द्वेष को सूक्ष्म परिग्रह (झीनी माया) ! सूक्ष्म परिग्रह छूटना कठिन है ।

*

*

*

जीवन के सम्बन्ध में भारत और पश्चिम का चिन्तन, कितना भिन्न है ? इस संदर्भ में एक विदेशी महिला के दो प्रश्न मननीय हैं ।

एक स्विस युवती ने एक बार एक भारतीय विचारक से पूछा—“कि आखिर यह कैसे सम्भव है कि इंडिया के लोग एक ही साथी के साथ जिंदगी गुजार देते हैं ? एक ही व्यक्ति के साथ रहते-रहते ‘बोर’ नहीं हो जाते ?”

दूसरी बात, जिस पर कि उसने आश्चर्य व्यक्त किया, यह थी कि—“पिता की मर्जी से विवाह सूत्र में बंध जाते थे, और जीवन भर एक-दूसरे के साथ रहते थे………… ? कैसे रहते थे ?

भारतीय जीवन के लिए जो बातें सहज धर्म की तरह बन गई हैं, पश्चिम वाले उस पर आश्चर्यचकित होते हैं ।

*

*

*

सत्य का उपदेश देने से कल्याण नहीं होता, सत्य का आचरण करने से ही कल्याण होता है ।

शास्त्र की चर्चा करने वाला तो शास्त्री होता है, आचरण करने वाला ही साधु होता है ।

शास्त्र और धर्म की चर्चा से आज तक किसी का कल्याण नहीं हुआ । संत तुकाराम ने कहा—“बोलांची च कड़ी बोलांचा च भात जेवोनी या तृप्त कोण झाला ?”

बोलने की कढ़ी और बोलने का भात खा कर कभी कोई तृप्त हुआ है ?

*

*

*

धर्म, मनुष्य में रहे हुए ब्रह्मत्व को जगाता है । शिक्षा; मनुष्य में ही रही हुई पूर्णता का विकास करती है ।

नदी जितनी गहरी होती है, उतना ही शोर कम करती है । मनुष्य की विद्वता जितनी गहरी होती है, वह उतना ही कम बोलता है ।

*

*

*

सदा प्रसन्न रहने का एक स्वर्ण सूत्र है, और वह यह है कि—“अपने पर सब का अधिकार है, किन्तु अपना अधिकार ईश्वर के सिवाय किसी पर नहीं है ।” यह विचार यदि मन में स्थिर कर लिया जाए तो बस जीवन में सदा ही बहार रहेगी, मन सदा प्रसन्न रहेगा ।

*

*

*

पढ़ते-पढ़ते स्वामी विवेकानन्द के एक विश्लेषण पर दृष्टि अटक गई। क्षत्रिय और ब्राह्मण मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए स्वामी जी ने लिखा है—

“उपनिषद् किसने लिखे थे? राम कौन थे? कृष्ण कौन थे? बुद्ध और महावीर कौन थे? जब कभी क्षत्रियों ने उपदेश दिया तो उन्होंने बिना किसी भेदभाव के सभी को धर्म का अधिकार दिया है।

और जब-जब ब्राह्मणों ने कुछ लिखा है, तो औरों को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित करने की चेष्टा की है।”

*

*

*

यदि संसार के सभी मनुष्य अपने-अपने भाग्य पर भरोसा कर के बैठ जायें, तो बिना किसी अणुबम के ही उसका विनाश हो सकता है।

*

*

*

भाग्य और पुरुषार्थ का प्रयोग समझ कर करो। कर्तव्य के आदि में पुरुषार्थ को जोड़ो, और अन्त में भाग्य को। ‘करना’ तुम्हारा धर्म है। यदि सफल हो गए तो उसका श्रेय भाग्य को देकर अहंकार से बच सकते हो।

यदि असफल हुए तो उसका भी कारण कुछ हद तक भाग्य को मानकर दीनता जनित संताप से छुटकारा पा सकते हो।

*

*

*

तुम जीवन में इसलिए निराश न होओ कि “तुम्हारा जीवन पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक है।” इतने मूल्यवान जीवन की इतनी कम कीमत आंक कर उन्नति के प्रयत्नों से विमुख हो जाना निरी-पुरुषार्थहीनता ही नहीं, बल्कि मानव बुद्धि का उपहास भी है।

❧

संपत्ति का अर्थ क्या है, जानते हो ?

संस्कृत व्याकरण के अनुसार उसकी व्याख्या यों है—

“सम्यक् प्रतिपत्तिः संपत्तिः”

जो सही तरीकों से प्राप्त की जाती है, वह संपत्ति है ।

जिस अर्थार्जन में गलत, अन्याययुक्त और विकृत तरीके अपनाये जाते हों, उसे तो ‘संपत्ति’ नहीं, किंतु ‘विपत्ति’ कहना चाहिए ।

*

*

*

संपत्ति समझदार मनुष्य की सेविका है । परन्तु मूर्ख के लिए वह जालिम है । समझदार उसका उपयोग करता है, जबकि मूर्ख स्वयं उसके उपयोग में आता रहता है ।

*

*

*

नादान से प्रशंसा पाने की अपेक्षा समझदार से निन्दा पाना कहीं अधिक ठीक है ।

नादान की प्रशंसा गुमराह कर देती है, जबकि समझदार की निन्दा तुम्हें मार्ग दिखाएगी ।

*

*

*

जिसे तू अपना मित्र बनाना चाहता है, उसे अपने उपकारों से न बाँध ! उपकारों में दबी हुई नित्रता, कभी अपना सच्चा रूप प्रकट नहीं कर सकती ।

*

*

*

अभिमान तर्क के मार्ग में एक बला है । भूलें उसकी साया में पलती रहती हैं । अज्ञान उसका सच्चा मित्र है ।

*

*

*

जो आवश्यकता से पहले ही रोता है, उसे आवश्यकता से अधिक रोना पड़ता है ।

*

*

*

क्या तुम इसे अहिंसा या दया कहते हो कि सेर खून निकाला और आधा छटांक वापस डाल दिया ? छटांक खून निकाल कर दो बूँद वापस लौटा दिया ?
लेना अधिक और देना कम, यह अहिंसा नहीं, शोषण है।
अहिंसा है—कम से कम लेना, और अधिक से अधिक देना !

*

*

*

श्रम को प्रधान, और पूंजी को गौण माने बिना, भूमण्डल पर कहीं भी शान्ति संभव नहीं है।

*

*

*

फूल के साथ काँटे का भी अपना महत्त्व है।
फूल खिलने और महकने के लिए है, तो काँटा फूल के संरक्षण के लिए है।

*

*

*

‘सर्वत्र समदर्शन’ का अमर सिद्धान्त मानव समाज के संकुचित दृष्टिकोण को विराट बनाता है। उसे करुणा के अमृत रस से लबालब भर देता है।

‘सर्वत्र समदर्शन’ का सिद्धान्त ‘सर्वत्र समवर्तन’ का उपदेश कभी नहीं करता है।

याद रखो, वर्तन में योग्यता का मापदण्ड यदि सामने नहीं रखा तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा !

गाय और गधी का यथाकाल उचित पोषण एवं संवर्धन करते हुए भी यह मत भूलो कि गाय दुहने के लिए है, और गधी लादने के लिए है।

दोनों के जीवन का मूल्य (महत्त्व) समान समझो, किन्तु उपयोग उसका अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार करो ! जीवन का यह संतुलित दृष्टिकोण है।

*

*

*

यह देखो, एक पाषाण खण्ड है। इसमें भी गहरी शान्ति है, समदर्शिता भी है। किसी से कुछ भी अपेक्षा नहीं। इसे कोई भी भला बुरा दृश्य प्रभावित नहीं कर सकता है।

किन्तु पाषाण-खण्ड की वह शान्ति, मृत-शान्ति है, मृतसमदर्शिता है ।
 तुम अनन्त शक्ति संपन्न चैतन्य देव हो, तुम्हें यह जड़ शान्ति, एवं जड़
 समदर्शिता नहीं चाहिए । तुम उस जीवित शान्ति और जीवित समदर्शिता के
 उपासक हो, जिसमें सर्वत्र स्व-पर-कल्याण का स्वर मुखरित हो रहा है, विकास
 का अभियान चल रहा है ।

*

*

*

निष्कपट मनुष्य की जिह्वा का मूल हृदय में होता है । जो उसके हृदय में है,
 वही उसकी जीभ पर रहता है ।

*

*

*

कर्तव्य-भावना की कमी, आज की सब समस्याओं की जड़ है ।

आज का कर्मचारी वर्ग सुभूम राजा की सेना की तरह सोचता है, वैसा ही
 आचरण कर रहा है, और कर्तव्य की पालकी गड्ढे में जाकर गिर रही है ।

पौराणिक आख्यायिका है कि सुभूम एक चक्रवर्ती राजा था । उसके पास
 पाँच सौ अंगरक्षक सुभट थे, बड़े ही बहादुर ।

एक बार राजा घूमने के लिए जंगल में निकला । राजा पालकी में सवार था
 और सुभट पालकी उठाए आगे बढ़ रहे थे ।

“इतने सुभट एक साथ पालकी उठाए चल ही रहे हैं । मैं जरा इधर-उधर
 कंधों को आराम दे लूँ”—एक सुभट ने सोचा !

“इतने एक साथ चल रहे हैं, यदि एक मैं नहीं होऊँ तब भी तो काम चल
 सकता है”—दूसरे सुभट ने विचार किया ।

तीसरे, चौथे, पाँचवें और यों एक-एक करके सभी ने एक साथ मन में
 निश्चय किया कि ‘मेरे एक के हट जाने से तो पालकी गिरने से रही, क्यों न
 थोड़ा-सा आराम कर लिया जाय ?’

और तब सभी ने एक ही समय पालकी के नीचे से अपना-अपना कंधा
 हटाया कि पालकी औँधी हो गई, राजा एक गहरे गड्ढे में गिर पड़ा ।

आज का मनुष्य कर्तव्य और ईमानदारी को दूसरे के भरोसे पर छोड़कर स्वयं उससे बच निकलता है, यह सोचकर कि सभी तो ठीक हैं, मेरे एक से क्या होने जाने वाला है ?

“व्यक्ति में समाज की संपूर्णता निहित है। व्यक्ति टूटा तो समाज टूटा”—यह समझकर अपने कर्तव्य का ईमानदारी से पालन करो।

*

*

*

देखो, ये मलिन वस्त्र हैं। धोबी के हाथों पत्थर पर पछाड़ खा रहे हैं ? यह मलिन मन है, विषयों से पछाड़ खाकर कष्ट पा रहा है।

शुद्ध वस्त्र को पिटने का भय नहीं। स्वच्छ मन को कोई कष्ट नहीं।

*

*

*

खाली घड़ा जल पर तैरता है, भरा डूब जाता है।

मन के घड़े में अहंकार का जल भरा कि वह डूब गया, संसार सागर में।

*

*

*

जिस बर्तन में छाछ रखी है, उसमें दूध भरने से पहले उसे अच्छी तरह साफ कर डालो।

विकल्पों की छाछ में ज्ञान का दूध टिक नहीं सकता।

*

*

*

गाली देने वाले के अन्तर में, पहले गाली प्रवेश करती है, फिर जीभ पर आती है और इसके बाद मुख द्वारा बाहर निकलती है।

मन, वचन और कर्म तीनों दूषित होने से ही गाली दी जाती है।

*

*

*

अपने गल्ले या तिजोरी में कोई भी आदमी सड़क या गली पर के गन्दे चिथड़े उठाकर नहीं भरता !

तो फिर अपने मन और मस्तिष्क में दुनियाँ भर के गन्दे विचारों को क्यों जमा कर रहे हो ?

*

*

*

उपादान और निमित्त में क्या अन्तर है ?

निमित्त कार्य की पूर्ति होने पर पृथक्, नष्ट या अनुपयोगी हो जाता है, जब कि उपादान कारण कार्य में अभेद भाव से अन्तर्निहित रहता है ।

इसलिए निमित्त कैसा भी रहे, किन्तु उपादान को शुद्ध रखो ।

* * *

धार्मिक क्रियाएँ किसलिए की जाती हैं ?

अन्तर्मुख वृत्ति का अभ्यास करने के लिए !

* * *

एक साँप पर हजारों चीटियाँ चिपटी हुई थीं ।

शिष्य ने पूछा—“गुरुदेव ! यह क्या है ?”

गुरु ने गंभीरता से उत्तर दिया—“कुगुरु के रूप में हजारों शिष्यों को इसने भटकाया था । अब वे शिष्य गुरुजी को कचोट रहे हैं ।

* * *

धर्म, प्रचार से नहीं, आचार से फैलता है । संस्कार से स्थिर होता है और विचार से शुद्ध होता है ।

* * *

रागाद्यदुष्टं हृदयं, रागदुष्टाऽनृतादिना ।

हिंसादि-रहितः कायः केशवाराधनत्रयम् ॥

रागद्वेष रहित हृदय, सत्य वचन, और पवित्र कर्म ईश्वर की सच्ची आराधना है ।

* * *

सत्पुरुष के स्वभाव में ये तीन बातें सहज रूप में मिलती हैं—

१. सब कुछ लुट जाने पर भी मन उदार रहता है ।

२. विपत्तियाँ सिर पर मँडराने पर भी मन स्थिर रहता है ।

३. मृत्यु की घड़ी आने पर भी धैर्य अखण्डित रहता है ।

*

*

*

आसक्ति और अशक्ति में क्या अन्तर है ?

सिर्फ एक मात्रा का । पहला मानसिक रोग है, दूसरा शारीरिक ।

*

*

*

भोग से तृप्ति नहीं, आसक्ति बढ़ती है । भोक्ता चाहता है—“अधिक शक्ति हो तो और अधिक भोग करूँ ।”

इस प्रकार अधिक शक्ति, अधिक भोग, फिर अधिक अतृप्ति और अन्त में, अधिक दुःख । यही है भोग का वास्तविक रूप ।

*

*

*

शरीर की खुराक अन्न है, जीवन की खुराक शास्त्र-श्रवण । शास्त्र-श्रवण, वह मशाल है, जो जीवन में अज्ञान का अंधकार मिटाकर प्रकाश फैलाती है ।

शास्त्र-श्रवण से जीवन के दाग उसी प्रकार दिखाई देते हैं, जिस प्रकार दर्पण में मुँह के दाग !

अन्न चबाने से पचता है, शास्त्र श्रवण-मनन करने से जीवन में ओज भरता है ।

*

*

*

यह नहीं कि धार्मिक व्यक्ति के हृदय में ही धर्म की लौ जला करती है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जीवन-भर अंधकार में रहने वाले हृदय में भी अकस्मात् वह विचित्र लौ जल उठती है कि संसार उसके प्रकाश को चकित होकर देखता रहता है, उसको भी, और अपने को भी !

कुछ वर्ष पहले क्वेटा में भूकम्प हुआ था । हजारों आदमी मर गए, हजारों ही अनाथ हों गए, अपंग और निराधार हो गए । हृदय में कैंपकैंपी पैदा करने वाला दृश्य ! बड़ा ही वीभत्स और बड़ा ही करुण !

और तभी लोगों ने देखा कि एक फैशनेबल रूप की रानी शृंगार से लदी तरुण नारी हाथ में मखमली पाकेट लिए उन अपंगों के बीच घूम रही है। बड़े प्रेम से पीड़ितों की पूछताछ करती है और किसी को दस का तो किसी को पाँच का नोट देती हुई आगे जा रही है। कोई नाम ठाम पूछे तो आँखें झुकाकर चुपचाप आगे बढ़ जाती है।

न कोई विज्ञापन, न कोई फोटो ! न आत्मख्याति की कामना !

लोग चकित होकर इस विचित्र नारी को देख रहे थे कि वह तन्मयता से अपना काम करती हुई आगे चली गई।

जब पता चला तो देखने वाले और सुनने वाले चकित रह गए कि वह नारी और कोई नहीं, हैदराबाद (सिंध) की इकबाल वेश्या थी।

कभी-कभी सभी के हृदय में बसने वाला राम ऐसे व्यक्तियों के हृदय में भी जग जाता है कि संसार देखता रह जाता है।

*

*

*

जीवन अनन्त है। मृत्यु इसका अन्त नहीं कर सकती। डरो मत ! फिर मृत्यु का अर्थ क्या ?

मृत्यु सिर्फ तुम्हारे एक प्रयत्न का अन्त करती है, और वह प्रयत्न फिर कहीं, किसी रूप में प्रारम्भ हो जाता है।

मृत्यु सिर्फ रूपान्तर है। जीवन उसमें बनी रहने वाली कड़ी है।

*

*

*

तुम दूसरों के दोष बताकर स्वयं निर्दोष बनने का प्रयत्न मत करो।

कीचड़ और कूड़ा अपने पर डालकर अपने को साफ-सुथरा समझना पहले दर्जे की बेवकूफी है।

*

*

*

एक अंग्रेजी कहावत है—'ठंडे पैरों कोई स्वर्ग में नहीं जाता।' इसका तात्पर्य है कि सत्कर्म करते समय मन में उत्साह तथा दृढ़ता की आग जलती रहनी

चाहिए। ढीले मन, और रोनी सूरत बनाकर सत्कर्म करना, नहीं करने से भी बुरा है।

जीवन में उत्साह और धैर्य की आग ठंडी न होने दो, फिर स्वर्ग दूर नहीं है।

*

*

*

एक भाई ने एक बार कहा कि अमुक व्यक्ति कहते हैं कि कवि जी तो इस संसार को स्वर्ग बनाने की बात करते हैं। यह सिद्धान्त-विरुद्ध है, साधुत्व के विपरीत है।

मैंने कहा—भाई ! वे इस संसार को स्वर्ग नहीं बनाना चाहते हैं तो क्या नरक बनाना चाहते हैं ?

क्या नरक बनाना सिद्धान्त और साधुत्व के अनुकूल है ?

जब तक हमारा आचरण इस संसार को स्वर्ग नहीं बना लेता, तब तक आगे (परलोक) के स्वर्ग का स्वप्न केवल दिवा-स्वप्न है और कुछ नहीं।

५

धन दौलत पाकर भी सेवा
अगर किसी की कर न सका।
दया भाव ला दुःखित दिलों के—
जर्रों को जो भर न सका।
वह नर अपने जीवन में,
सुख शान्ति कहाँ से पाएगा ?
टुकराता है, जो औरों को,
स्वयं ठोकरें खाएगा।

—उपाध्याय अमर मुनि

५

सज्जन की संगति सिर्फ इसलिए मत करो कि वहाँ ज्ञान की प्राप्ति होगी । ज्ञान तो पुस्तकों से भी मिल सकता है । लेकिन जो चीज पुस्तक से नहीं मिल सकती, वह सज्जन की संगति से मिल जाती है । और वह है—ज्ञान का आचरण ।

ज्ञान का आचरण जीवन में कैसे होता है, इसकी प्रेरणा के लिए सत्संग में जाओ ! तुम्हें वातावरण मिलेगा, विचार मिलेगा, आचार मिलेगा । कुल मिलाकर, जीने की कला मिलेगी ।

*

*

*

धर्म तो एक प्राण वायु के समान है । वह सब के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही सब के लिए समान लाभदायी है ।

विशुद्ध प्राण वायु के लिए शुद्ध व उन्मुक्त स्थान में जाना जरूरी है । उसी प्रकार धर्म का विशुद्ध रूप पाने के लिए भी पवित्र एवं उन्मुक्त (भेदभाव रहित) विचार जरूरी है ।

*

*

*

भूत संसार में कहाँ रहते हैं ?

जंगलों में, पहाड़ों में, पहाड़ों की निर्जन गुफाओं में, अंधकार में या झाड़ियों में ?

नहीं वहाँ कोई भूत नहीं रहता ।

फिर भूत कहाँ रहता है ?

तुम्हारे मन का पर्दा हटाकर देखो ! उसी के भीतर वह बैठा है—कभी क्रोध के रूप में, कभी अविश्वास या बहम के रूप में, कभी अहंकार या लोभ के रूप में वह प्रकट होता है ।

वह मायावी है, क्षण-क्षण में रूप बदलता रहता है, और इसीलिए तुम अभी तक उसे पहचान नहीं पाए हो ?

*

*

*

जीवन की चढ़ाई में तुम परिवार और समाज के कर्तव्यों एवं जिम्मेदारियों का बोझ लेकर चढ़ रहे हो, तो चढ़ो ! किन्तु उस बोझ को अपनी पीठ पर रखो, छाती पर नहीं !

पीठ पर वजन लेकर चलने वाला धीरे-धीरे मंजिल तक पहुँच जाता है, किन्तु छाती पर वजन ले लिया तो ? एक कदम चलना तो बड़ी बात है, वहीं दम तोड़ दोगे !

उत्तरदायित्वों को निष्काम भाव से उठा रहे हो, तो वह बोझ पीठ पर है । किन्तु उसमें किसी प्रकार का क्षुद्र स्वार्थ घुस गया, तो वह बोझ तुम्हारी छाती पर चढ़ जाएगा ।

*

*

*

पर्वत की गहन घाटी में एक फूल हँस रहा था । मधुर सौरभ से आसपास का वायुमण्डल महक-महक कर रहा था । भ्रमर-बालाएँ गुंजार करती हुई मंडरा रही थीं ।

एक सहृदय कवि ने देखा, तो पूछ बैठा—इस विजन, गहन घाटी में किसने निमंत्रण दिया था इन भ्रमर-बालाओं को ?”

तभी गुंजार करती हुई एक भ्रमर-बाला बोल उठी—“गुणों के कदरदान बिना बुलाए ही आते हैं ।”

*

*

*

मनुष्य ! तू काम कर, कामना मत कर !

काम (कार्य) मनुष्य को ऊपर उठाता है, किन्तु कामना नीचे गिरा देती है ।

*

*

*

अगर तुम फूल की तरह हँसना-खिलना जानते हो, सदगुणों की सुगन्ध से वातावरण को महकाना जानते हो, तो प्रशंसा करने वालों और प्रतिष्ठा देने वालों की टोली अपने आप तुम्हारे इर्द-गिर्द जमा हो जाएगी ।

दुनिया कदरदान है, मगर काबिले कद्र भी तो मिलना चाहिए ।

*

*

*

आचारहीन पाण्डित्य धुन लगी लकड़ी के समान अन्दर से खोखला होता है ।

रोगन की पालिश लकड़ी को चमका सकती है, किन्तु उसके अन्दर शक्ति तो नहीं डाल सकती ?

* * *

शब्दों की अपेक्षा कर्म अधिक जोर से बोलते हैं ।

उपदेशक ! तुम चुप हो जाओ ! अपने आचरण को बोलने दो । यह उपदेश का युग नहीं, आचरण का युग है ।

* * *

ब्रह्मचर्य जीवन का अग्नि तत्व है, तेजस् एवं ओजस् । उसका प्रकाश और उसकी प्रभा स्वयं के जीवन को ही नहीं बल्कि संसार को भी प्रकाशमान बना देती है ।

* * *

सच्चे संत का जीवन बेपरवाही, बेफिक्री और औलियापन लिए होता है । उसमें दिखावट या नकल नहीं होती । दर्शक पर वह अपनी सहजता और सादगी की अचूक छाप डालता है, जो किसी प्रचार या पुस्तक से नहीं डाली जा सकती ।

जूनागढ़ में एक बार किसी ने नवाब साहब के कान भरे कि यह सहजानंद स्वामी निरा पाखंडी है ।

नवाब ने कहा—किसी दिन मैं देखूँगा—और कुछ ही समय बाद स्वामी सहजानंद जी जूनागढ़ आए । भक्तों ने बड़ी धूम-धाम से हाथी पर सवारी निकाली ।

सवारी शहर के मध्य में पहुँच रही थी कि किसी भक्त ने एक चीभड़ा (तरबूज) भेंट किया । स्वामीजी ने बड़े प्रेम से स्वीकार किया और हाथी पर बैठे-बैठे ही खाने लग गए ।

सवारी राज महलों के नीचे से गुजर रही थी कि चुगलखोरों ने यह अवसर देखा और स्वामी जी की ओर अंगुली का इशारा करते हुए बादशाह से कहा—“हज़ूर वह जो हाथी पर बैठा हुआ चीभड़ा खा रहा है, वही है सहजानंद।”

नवाब गंभीरता से स्वामीजी की ओर देखते रहे। कुछ देर बाद बोले—“यह तो सच्चा औलिया लगता है। औलिया के सिवाय कौन हाथी पर चढ़कर रास्ते के बीच चीभड़ा खा सकता है?”

सब का मुँह जमीन की ओर झुक गया।

जीवन में स्वाभाविकता और बेपरवाही कितनी विलक्षण थी ?

*

*

*

किसी धर्म को इसलिए बड़ा मत समझो कि वह राजाओं और युवराजाओं ने चलाया है। बड़े-बड़े सम्राटों ने स्वीकार किया है। चूँकि बड़े कहे जाने वालों में अधिकतर आध्यात्मिक अनुभव का अभाव-सा ही होता है।

*

*

*

भक्ति का अर्थ, दासता या गुलामी नहीं है।

भक्ति का अर्थ है, अपने आराध्य के साथ एकता और अभेदता की अनुभूति।

जब यह अनुभूति जगती है, तभी सच्ची भक्ति प्रकट होती है।

*

*

*

वस्तु के संग्रह से सुख नहीं मिल सकता, सुख तो अपनी आवश्यकता को कम करने से ही मिल सकता है।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक संत सुकरात के बारे में कहा जाता है कि एक बार उनका एक धनी मित्र उन्हें बड़ी विशाल दुकान पर ले गया। वहाँ सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ बड़े आकर्षक एवं मोहक ढंग से सजाई हुई थीं। वहाँ की व्यवस्था ही कुछ ऐसी थी कि ग्राहक देखते ही खरीदने के लिए ललचा उठता।

पूरी दुकान देख लेने के बाद मित्र ने सुकरात से पूछा—“कहो ! कैसी लगी ?”

सुकरात ने कहा—“यह दुकान देख कर मुझे बहुत ही आनन्द हुआ ।”

मित्र ने फिर पूछा—“कौन-कौन सी चीजें खास तौर से पसंद पड़ीं ?”

“इनमें से किसी एक चीज की भी मुझे आवश्यकता नहीं है ।”

“यह कैसे हो सकता है ? जब अच्छी चीज देख कर खुशी हुई है तो उसे लेना भी चाहिए ।”

सुकरात ने उत्तर दिया—“समझो, हम किसी दवा की दुकान पर गए हों, वहाँ बढ़िया से बढ़िया दवा होती है; किन्तु अपने को इनमें से किसी भी दवा की जरूरत नहीं है, यह जान कर हमें आनन्द होता है या नहीं ? इसी प्रकार इस दुकान में से मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है—इस विचार से मुझे उतना ही आनन्द हुआ है ।”

आवश्यकता को एक बीमारी समझकर वस्तु को दवा के रूप में उपयोग करना ही जीवन में शान्ति का महान सूत्र है ।

*

*

*

आज के दिन प्रतिज्ञा करो कि—“हमारे देश में जो रूखा सूखा, पाव या आधा पाव मिलेगा वही खाएँगे, और जो हमारे देश में बनेगा उसी का उपयोग करेंगे ।”

—यदि बाहर से मँगाए जाने वाले अन्न, वस्त्र के बिना हमें भूखा नंगा रहना पड़े, तो वही हमारी शान होगी । यदि भूख के कारण मरना भी पड़े तो मरेंगे । किन्तु विदेशों से भीख माँग कर लिया हुआ अन्न खाकर, परमुखापेक्षी बन कर जीना हमें कतई मंजूर नहीं होगा ।”

तुम कैसे स्वतन्त्र हो, जो दूसरों की रोटी पर जीते हो ? आज अपने श्रम और संयम से स्वतन्त्रता की रक्षा करने का संकल्प करो ।

*

*

*

संत तुकाराम ने नम्रता को सबसे बड़ी वीरता बताया है। उन्होंने कहा है—

“नम्र झाला भूता तेणें, कोंडिले अनंता
हें चि शूरत्वा चे अंग”

जो प्राणी मात्र के प्रति नम्र हो जाता है, वह सब को अपने वश में (बंदी) कर लेता है, यही तो उसकी वीरता है।

संसार को अपना बंदी बनाना, यह वीर का लक्षण है।

संसार को अपने समक्ष झुका लेना, यह नम्रता का सहज गुण है।

*

*

*

बलि राजा ने वामन के आगे मस्तक झुका कर अपने द्वार पर द्वारपाल के रूप में (पाताल में होते हुए भी) भगवान को अटका लिया, क्या यह किसी अन्य शक्ति से सम्भव था ?

यह शक्ति सिर्फ नम्रता, या समर्पण में ही है।

*

*

*

व्रत और मत में अन्तर है।

एक विचार है, दूसरा साधना की पद्धति।

व्रत के बिना मत का कोई महत्व नहीं, जैसे कि प्राण के बिना देह का।

*

*

*

प्रेम देता ही रहता है, माँगता नहीं। जो माँगता है वह प्रेम नहीं होता, ममता होती है।

ममता-याने मेरा पन, मालिकी या स्वामित्व की भावना। प्रेम से इसका क्या सम्बन्ध ?

ममता दुःख का कारण है। प्रेम में सुख ही सुख है।

*

*

*

क्या तुम जानते हो कि प्रकृति ने स्वर्ण को पृथ्वी के पेट में क्यों छुपाकर रखा है ?

और फूलों को खुले उपवन में, डालियों पर क्यों खिला दिया ?
स्वर्ण की मोहकता मनुष्य के दुःख का कारण है ।

और फूलों की मोहकता, मनुष्य के आनन्द का कारण ।

*

*

*

जीवन का ध्येय त्याग है, भोग नहीं; श्रेय है, प्रेय नहीं; वैराग्य है, विलास नहीं;
प्रेम है, प्रहार नहीं ।

*

*

*

जिस प्रकार धरती के नीचे सागर बह रहे हैं, पहाड़ की चट्टान के नीचे मीठे
झरने बह रहे हैं, उसी प्रकार क्रूर मनुष्य के अन्तर मन में भी मानवता का
अमृतस्रोत बह रहा है । क्या मालूम, कब फूट पड़े । मनुष्य, तू अपने अन्दर की
अनन्त शक्ति को जागृत कर, सारा भूमण्डल तेरे एक कदम की सीमा में समा
जाएगा ।

*

*

*

घृणा को प्रेम में, द्वेष को मैत्री में, अंधकार को प्रकाश में, मृत्यु को जीवन में,
और नरक को स्वर्ग में बदलने की क्षमता तेरे अन्दर में ही है । आवश्यकता है
प्रसुप्त शक्ति को जागृत करने की ।

*

*

*

गुलाब के दो पौधे किसी सरोवर के किनारे पर शैशव की पहली अँगड़ाई
भर कर मुस्करा रहे थे ।

एक सम्राट ने उन सुकुमार एवं सुन्दर पौधों को देखा, और एक पौधा
उठाकर अपने महलों में शयन कक्ष के सामने रखवा दिया ।

प्रातः उठते ही सम्राट पौधे के निकट आकर पहला सूत्र बोलता—“दुष्ट को
दुष्टता से जीतना चाहिए, अन्यथा वह तुम्हारे अस्तित्व को ही मिटा डालेगा ।”

उसी दिन से पौधे ने अपनी सुरक्षा के लिए काँटे पैदा किए, जो उसकी ओर
बढ़ने वाले हाथों में चुभने लगे ।

गुलाब का दूसरा पौधा एक सन्त ने उठाकर अपनी पर्ण कुटी के सामने लगा दिया ।

प्रातः सूर्य दर्शन करके संत गुलाब के पौधे के निकट आकर बोलता—“दूसरों की भलाई के लिए अपने को मिटा दो । इसी में जीवन की सार्थकता है ।”

उसी दिन से पौधे पर गुलाब का पहला फूल खिला, पवन के चरणों पर चढ़कर दूर-दूर तक अपनी सुरभि बाँटने निकल पड़ा, वह !

जिसने तोड़ा वही मधुर सुगन्ध से पुलकित हो उठा । आज गुलाब काँटों के लिए नहीं, किन्तु मधुर सुगन्ध के लिए विश्वविख्यात है ।

*

*

*

तुम चाहे अध्यात्म पथ के साधक हो, या समाज के कार्यकर्ता, अपना जीवन इतना हल्का और सादा रखो कि वह न तो परिवार या समाज पर भार बन कर पड़े, और न ही उसकी चमक-दमक से किसी की आँखें चुँधियाँ जाएँ ।

*

*

*

अहिंसा, अपरिग्रह की माता है ।

जिस अहिंसा की साधना से अपरिग्रह भाव का जन्म नहीं होता, जनता का शोषण बन्द नहीं होता, वह अहिंसा वन्ध्या है ।

इस प्रकार की निष्ठा और वन्ध्या अहिंसा से जनता का कल्याण नहीं हो सकता ।

*

*

*

आस-पास में बिखरी हुई जनता के प्रति यदि तुम्हारे मन में कुछ भी दया या अहिंसा की भावना जगी है, तो सबसे पहला कार्य यह करो कि तुम अपने आपको 'समेट' लो ।

जितने अंश में जनता का शोषण कम होगा, उतने ही अंश में उसके सुख फल-फूल सकेंगे ।

*

*

*

प्रेम क्या है ?

प्रेम हृदय की वह तरंग है, जो शत्रु की शत्रुता का मैल धोकर उसे मित्रता की उज्ज्वलता प्रदान करती है ।

प्रेम, अखिल विश्व को अपनी सहज ममता से आप्लावित कर देता है ।

प्रेम महान है, किन्तु उसको मुक्त मन से लुटाने वाला और भी महान् है ।

*

*

*

संसार में कोई भी व्यक्ति इतना धनवान अथवा महान नहीं है कि मुस्कान के बिना अपना काम चला सके ।

और न ही कोई व्यक्ति इतना निर्धन अथवा तुच्छ है कि जिसे मुस्कान सम्पन्न न बना सके ।

*

*

*

दुनिया में दो ही ताकत हैं—एक तलवार और दूसरी कलम । परन्तु तलवार हमेशा कलम से शिकस्त खाती आई है ।

❖

दार्शनिको ! भूख, गरीबी और अभाव के अध्यायों से भरी हुई इस भूखी जनता की पुस्तक को भी पढ़ो ।

ईश्वर और जगत् की उलझन को सुलझाने से पहले इस पुस्तक की पहेली को भी सुलझाने का प्रयत्न करो !

*

*

*

तलवार मनुष्य के शरीर को झुका सकती है, मन को नहीं । मन को झुकाना हो, तो प्रेम का ब्रह्मास्त्र उठाओ । प्रेम का ब्रह्मास्त्र अजेय है, अचूक है ।

*

*

*

जो आन लो, और यदि वह सत्य पर आधारित है, तो उस पर अड़े रहना ही तुम्हारी शान है ।

*

*

*

नरक कहाँ है ?

जहाँ क्रोध, द्वेष, वैर, घृणा और ईर्ष्या की वैंतरणी बहती हो ।

स्वर्ग कहाँ है ?

जहाँ प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, समवेदना और सद्भावना की अमृतमयी-गंगा बहती हो !

*

*

*

हजारों वर्षों से असत्य के भूसे ने सत्य के शुद्ध अन्न को ढक रखा है ।

भूसे को हटाकर ही अन्न खाया जाता है !

असत्य को हटाकर ही सत्य को परखा जाता है !

*

*

*

भारत का नागरिक, तभी भारत को स्वर्ग-भूमि बना सकेगा, जब कि वह यह प्रण करेगा कि वह जिस दिन कमाएगा, उसी दिन खाएगा । और जब खाएगा, तब किसी को खिलाकर ही खाएगा ।

*

*

*

जीवन की यथार्थता से दूर हटकर मात्र कल्पना के स्वप्निल संसार में विचरण करना, दार्शनिकता नहीं है ।

दार्शनिकता वह है जिसके सक्षम एवं विराट चिन्तन में जीवन की यथार्थता का स्पन्दन हो ।

जीवन और जगत के मूलभूत प्रश्नों का वास्तविक समाधान हो ।

*

*

*

प्रतिहिंसा की प्रेरणा के मूल में क्रोध है । वह पतन का मार्ग है । जो तुम्हें ऊँचा और महान बनाती है, वह है उपेक्षा !

*

*

*

प्रतिहिंसा की भावना का जन्म कायरता से होता है ।

*

*

*

किसी की हत्या करना, सावधानी का काम भले ही हो, पर साहस का काम तो है ही नहीं !

*

*

*

सबसे बड़ी विजय वह है, जिसे मनुष्य अपने ऊपर प्राप्त करे। दूसरों पर विजय, विजय नहीं, क्रूरता है।

*

*

*

कोई भी मनुष्य एकदम 'महान' नहीं बन जाता। परिस्थितियाँ किसी को बड़ा बना सकती हैं, मगर महान् नहीं बना सकतीं।

महानता के संस्कार जिसमें होते हैं, वही 'महान' बनता है। और वे संस्कार जीवन के उदय काल से ही विकसित होने प्रारम्भ हो जाते हैं।

गोपाल कृष्ण गोखले की एक घटना कभी-कभी मैं सुनाया करता हूँ कि उनके जीवन में महानता के संस्कार कितने गहरे थे।

एक बार अध्यापक ने विद्यार्थियों से पूछा "यदि तुम्हें कहीं एक हीरा पड़ा मिल जाए तो तुम क्या करोगे?"

एक ने कहा—“मैं उसे बेचकर कार खरीदूँगा।”

दूसरे ने कहा—“मैं बहुत बड़ा बँगला बना लूँगा, और आराम करूँगा।”

तीसरे ने अपने पिता को दे डालने की बात कही।

अध्यापक के मन को विद्यार्थियों की मनोवृत्ति से संतोष नहीं हुआ। वह एक-एक विद्यार्थी से यह प्रश्न पूछता गया। अन्त में एक विद्यार्थी से पूछा गया, तो उसने उत्तर दिया—“मैं सबसे पहले उसके मालिक का पता लगाऊँगा।”

“समझ लो, उसके मालिक का पता नहीं लगा तो?”

“तो मैं उसे बेच डालूँगा, और जो रुपया मिलेगा उसका आधा गरीबों को बाँट दूँगा, और आधा किसी सेवा फंड में जमा करा दूँगा।” अध्यापक ने विद्यार्थी की पीठ थपथपाई।

ये संस्कार ही आगे जाकर उसे महान सत्यवादी और देश भक्त 'गोपाल कृष्ण गोखले' के रूप में चमका सके।

*

*

*

आकाश के चंचल नक्षत्रों और जमीन के अन्तस्तल की हलचलों को देखने वाला आज का विज्ञान प्रेमी मानव, अपने पड़ौसी की गिरती हुई झोंपड़ी को नहीं देख पा रहा है। इससे बढ़कर विज्ञान की क्या विडम्बना हो सकती है ?”

*

*

*

पहाड़ की गहरी कन्दरा में गुलाब का एक फूल खिला हुआ था। मैंने पूछा—“फूल ! तू यहाँ किसलिए महक रहा है ? यहाँ पर न कोई तुम्हारी सुकुमार सुषमा को देखकर उल्लसित होने वाला है, और न मधुर परिमल एवं पराग का आस्वाद लेकर कोई वाह ! वाह !! कहने वाला ही है।”

फूल ने उत्तर दिया—“मैं इसलिए नहीं महकता कि मुझे कोई देखे, या सुगन्ध लेकर वाह ! वाह !! कहे।

मेरा तो अपना सहज स्वभाव ही है—खिलना, महकना, सौरभ बिखेरना !”

मैंने सोचा,—क्या हमारा जीवन भी कभी इस सिद्धान्त से कृतार्थ होगा ?

*

*

*

सन्त से पूछा, किसी ने—“तुम्हारा शास्त्र क्या है ? किस भाषा में है ?” और अनुयायी कौन है ? सन्त ने उत्तर दिया—“चिन्तन और विचार मेरा शास्त्र है। आचार उसकी भाषा है। उसको पढ़े और उस पर चले वही मेरा अनुयायी है।”

*

*

*

वीरता और कायरता में क्या भेद है ?

एक कदम का ! जहाँ वीर का कदम सदा आगे की ओर बढ़ता है, वहाँ कायर का कदम पीछे की ओर मुड़ता है।

वीर मरकर अपने पीछे आदर्श का उज्ज्वल प्रकाश छोड़ जाता है लेकिन कायर कुत्ते की मौत मरता है और अपने पीछे छोड़ जाता है अन्धकार, केवल अन्धकार !

*

*

*

संसार में मनुष्यों की कितनी जातियाँ हैं ?

न अनन्त ! न असंख्य ! न हजारों और न सैकड़ों ! सिर्फ चार जाति के मनुष्य इस संसार में निवास करते हैं।

१. एक वह, जो संसार से लेता ही रहता है, देता कुछ नहीं ।
२. दूसरा वह, जो जितना लेता है, उतना देता भी रहता है ।
३. तीसरा वह, जो लेता है उससे ज्यादा देता है ।
४. चौथा वह, जो लेता कुछ नहीं, देता ही देता है । अपना समस्त जीवन संसार की सेवा में अर्पित कर देता है ।

*

*

*

अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है, चाहे वह किसी नामरूप में हो । वहाँ महत्त्व है केवल धर्म का, सिर्फ सदाचरण का ।

तथागत बुद्ध अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व देते थे । यह बात भिक्षु वक्कलि और उनके बीच हुए संवाद से प्रकट होती है ।

भिक्षु वक्कलि जब एक बार बीमार पड़े तो उन्होंने भगवान बुद्ध के दर्शन की इच्छा प्रकट की । भिक्षु की इच्छा को पूर्ण करने के लिए तथागत स्वयं उनके पास गए और धर्मोपदेश दिया—“वक्कलि ! मेरी इस गंदी काया को देखने में तुझे क्या लाभ है ? वक्कलि ! जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है,—जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है ।”

वक्कलि को सम्बोधित करके दिया गया यह उपदेश, हमें धर्म की सर्वोच्च सत्ता की ओर देखने का इंगित करता है ।

*

*

*

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार प्रतिष्ठा का देवता सूर्य है । जिसका सूर्य ग्रह बलवान होता है वह प्रतिष्ठित और प्रभावशाली होता है ।

जीवन शास्त्र के अनुसार यदि इसकी व्याख्या करें तो यों कर सकते हैं कि प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रतापवान बनो, सूर्य की तरह अकेला चलना सीखो, और विपत्तियों के अन्धकार के साथ संघर्षरत रहो !

*

*

*

इस संसार में नकली सिक्का नहीं, असली सिक्का चलता है। सत्य उसी को प्राप्त होता है जो सत्य की अनुभूति करता है। और सत्य की यथार्थ अभिव्यक्ति भी वही कर सकता है, जो उसकी अनुभूति कर चुका हो।

अनुभूति पूर्ण अभिव्यक्ति मार्मिक होती है। दूसरों की अनुभूति भी तभी प्राप्त हो सकती है जब व्यक्ति जीवन के उतार-चढ़ाव में गहरा पैठता है।

*

*

*

एक अस्सी वर्ष के स्वस्थ पादरी ने अपने स्वस्थ एवं प्रसन्न जीवन का मूल मंत्र इन चार वाक्यों में बताया है—

“आधा खाओ,
दुगुना पानी पीओ,
तीन गुनी नींद लो;
और चार गुने हँसो।”

*

*

*

दीर्घ जीवन के लिए उतावलापन शत्रु है। विशाल आकांक्षाएँ थकावट हैं, आलस्य और निकम्मापन बीमारी है।

*

*

*

एक बार स्वामी विवेकानन्द काशी में एक रास्ते से जा रहे थे। रास्ता ऐसा था कि एक ओर तालाब और दूसरी ओर ऊँची दीवार, दूर तक दोनों बराबर जा रहे थे। रास्ते में बंदर भी बहुत थे। यों भी काशी के बंदर बड़े ढीठ और भयानक अधिक होते हैं। बंदरों के मन में जाने क्या आया कि वे इधर-उधर से दौड़कर स्वामीजी का रास्ता रोकने लगे और एक भयंकर अंदाज से चीखने लगे। वे बार-बार निकट आकर स्वामीजी के पाँवों को काटने का प्रयत्न भी करने लगे। स्वामीजी ने अपने को बचाने के लिए दौड़ना शुरू किया, तो बंदर भी उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। जितनी तेजी से स्वामीजी दौड़ते उतनी ही तेजी से बन्दर भी दौड़ने लगे। आखिर उनसे छुटकारा पाना असंभव-सा दीखने लगा।

स्वामीजी की यह घबराई हुई अवस्था देखकर दूर से एक अपरिचित आवाज आई—“बन्दरों का सामना करो, पीठ दिखाकर दौड़ो नहीं, डटकर मुकाबला करो।”

स्वामी विवेकानन्द ज्योंही मुँह फेर कर बन्दरों के सामने डट कर खड़े हुए कि बन्दर ठिठक कर पीछे हट गए और अन्त में भाग गए।

इस घटना से स्वामी विवेकानन्द को जीवन भर के लिए सुनहला उपदेश मिला, और वह यह कि संसार में जो कुछ भयानक है और खतरनाक है, उसके सामने डटकर खड़े हो जाओ। वीरता से उसका मुकाबला करो। केवल यही उपाय है विपत्तियों से छुटकारा पाने का, और उन पर विजयी होने का।

*

*

*

सामने एक विशाल वृक्ष लहलहा रहा है। मैं सोचता हूँ—वृक्ष का यह विराट वैभव किस मूलाधार पर खड़ा है ?

वृक्ष का मूल आधार है, वे जड़ें, जो पृथ्वी के गर्भ में बहुत गहरी चली गई हैं। वे पृथ्वी से रस लेती हैं, और वृक्ष को अर्पण कर देती हैं। जड़ों ने वृक्ष को मजबूती के साथ पकड़ रखा है। हवा के तेज झोंकों से गिरने ही नहीं देती।

वृक्ष का हर पत्ता, हर फूल और हल फल, उनकी ओर आभार से सिर झुका रहा है। हर नई कोंपल जड़ों को प्रणाम करके अपना आभार प्रकट कर रही है।

किन्तु देखो ! कितनी विनम्र और लज्जाशील हैं वे जड़ें ! पृथ्वी के अन्दर किस प्रकार शर्माई हुई सी मुँह छिपाए बैठी हैं ?

समाज-सेवा करने वाले ही समाज-वृक्ष की गहरी जड़ें हैं, और समाज का हर व्यक्ति एक पत्ता है, फूल है, और फल है।

समाज का गौरव, समृद्धि और उन्नति उन्हीं प्रसिद्धि से दूर रह कर चुपचाप समाज का पोषण करने वाली जड़ों पर टिका है।

*

*

*

यदि आपको स्वयं पर विश्वास है, तो आलोचनाओं की परवाह किए बिना अपना काम करते जाइए ।

*

*

*

मकान को ढहाने वाला मजदूर होता है, और बनाने वाला कारीगर ।
मजदूर जुड़ी हुई ईंटों और पत्थरों को तोड़ कर गिरा रहा है । कारीगर ईंटों और पत्थरों को मिलाकर जोड़ रहा है, वह बना रहा है ।

जीवन में विध्वंस, तोड़-फोड़ करने वाला मजदूर है, और उसे बनाने वाला, जोड़-तोड़ करके निर्माण करने वाला कारीगर है ।

*

*

*

युवक ! तुम्हारे सामने आज न कोई मकसद है, न कोई मंजिल; इसीलिए तुम्हारा जोश ठंडा पड़ गया है ।

*

*

*

ढील देकर बच्चे पतंग को ऊपर, ऊपर चढ़ाते जा रहे हैं । पतंग बाजी का आनन्द वही ले रहा है जिसके पास ढील देने के लिए भरपूर डोर है ।

जीवन के पतंग को स्नेह की ढील दो, वह ऊपर उड़ता जाएगा । यदि जीवन की पतंग बाजी का आनन्द लेना है तो स्नेह की डोर इकट्ठी करो ।

*

*

*

प्राण या प्रण ?

प्राण देकर प्रण की रक्षा, या प्रण देकर प्राण की रक्षा— ?

इस प्रश्न का उत्तर अभी वाणी से मत दो, समय आने पर कर्तव्य से देना ।

*

*

*

शहद की मक्खी दो काम करती है, मिठास भी देती है, और प्रकाश भी । वह विभिन्न रंग और विभिन्न जाति के फूलों से रस एकत्र कर के मधु के रूप में मिठास देती है ।

और छत्ते के मोम से बनी मोमबत्ती के रूप में व्यक्त होकर वह प्रकाश भी देती है ।

साधक मधुमक्खी के समान है । वह विभिन्न परम्पराओं और विभिन्न शास्त्रों का रस लेकर मधु के रूप में समाज को बोध का मिठास देता है और अपने जीवन के सत्कर्मों द्वारा समाज को प्रकाश भी देता है ।

*

*

*

विजय प्राप्त करने के लिए साधन-सम्पन्नता की, उतनी जरूरत नहीं, जितनी की दृढ़ संकल्प की है ।

जिसके पास संकल्प का बल है, उसके पास साधन आ ही जुटते हैं ।

*

*

*

शरम है बड़ी, लक्ष्य से फिर गए हो,
महावीर-आदर्श से गिर गए हो ।
भला पुत्र वे जग में कैसे बड़े हों,
पिता के शुभादर्श से जो गिर गए हों ।

—'अमर-माधुरी' से

❖

नया वर्ष, नयी उमंग और नया उत्साह लेकर आया है । भविष्य की सुन्दर योजनाएँ एवं उज्ज्वल सम्भावनाएँ इसके गर्भ में छिपी हैं, अतः शुभसंकल्प की लौ प्रज्वलित करो और भविष्य को सुखद सुन्दर एवं मंगलमय बनाने के लिए उद्यत हो जाओ ।

*

*

*

आज देश में द्वेष, घृणा और भेद-भाव की जहरीली हवाएँ चल रही हैं, वातावरण विषाक्त हो रहा है । शासन घृणा, द्वेष और भेद पैदा करने वाले तत्वों पर प्रतिबन्ध लगाने का जी तोड़ प्रयत्न कर रहा है, किन्तु फिर भी वे तत्व अधिक सक्रिय हो रहे हैं ।

घृणा द्वेष के इन बाह्य तत्वों पर प्रतिबंध लगाने मात्र से समस्या का सही समाधान नहीं हो सकता। जब तक उन सामाजिक और मानसिक व्यवस्थाओं और कारणों को नहीं मिटाया जाता, जिनके कारण मनुष्य के हृदय में भय, घृणा, द्वेष और भेद के विषैले अंकुर पैदा हो रहे हैं, समस्या का स्थायी हल नहीं हो सकेगा।

*

*

*

मैं देखता हूँ—बच्चों के कोमल हृदय में प्रारम्भ से ही एक दूसरे वर्ग और जाति के प्रति घृणा और द्वेष के संस्कार भरे जा रहे हैं।

मैं हैरान हूँ—इन अमृत के सुन्दर घड़ों में यह घोर हलाहल क्यों भरा जा रहा है?

क्या वे नहीं जानते कि “यह भयंकर विष सबसे पहले उन्हीं को मारेगा, जो आज उसे बच्चों के कच्चे और कोरे दिल-दिमाग में भर रहे हैं।”

*

*

*

भारतीय संस्कृति-एक विविधरंगी वस्त्र है। वह अनेक रंग-बिरंगे धागों से बना हुआ ‘देवदूष्य’ है।

यदि प्रत्येक धागा वस्त्र की बनावट में अपना महत्त्व समझ ले, और उसके ताने-बाने में संलग्न रहने का गौरव अनुभव करने लग जाय, तो फिर कोई भी शक्ति संस्कृति के इस ‘देवदूष्य’ को विखण्डित और विभाजित नहीं कर सकती।

*

*

*

इस जगत की तीन अवस्थाएँ हैं।

जो अवस्था प्रारब्ध से प्राप्त हो गई है उसी अवस्था में रोते-बिलबिलाते पड़े रहना, निरुपाय और निरुत्साह होकर करवटें बदलते रहना “पशुत्व” है।

जो अवस्था प्राप्त हो गई है, उसमें जो अशुभ और असुन्दर है उसे छोड़कर निरन्तर शुभ और सुन्दर की ओर बढ़ते रहने का प्रयत्न करना—‘मनुष्यत्व’ है।

शुभ अशुभ के प्रभावों और प्रतिक्रियाओं से अस्पृष्ट रहकर सब अवस्थाओं में सर्वदा आनन्दमय होकर रहना—‘ईश्वरत्व’ है।

तुम सोचो, वर्तमान में किस अवस्था से गुजर रहे हो, और कौन सी अवस्था प्राप्त करनी है ?

*

*

*

कभी-कभी विचार आता है “क्या संविधान” के जरिये से देश में समाजवाद आ सकता है ?

‘शासन तन्त्र’ की सुई—मनुष्य-मनुष्य के हृदयों को जोड़कर एक कर सकती है ?

शक्ति और सत्ता—जन-जन के बीच सद्भावना स्थापित करने में समर्थ हो सकती हैं ?

चिन्तन मनन की लम्बी घाटियों को पार करने के बाद भी इनके उत्तर में ‘नकारात्मक-ध्वनि’ लौटकर आई है—नहीं ! नहीं ! और नहीं !

समाजवाद, सहकारिता और सद्भावना ऊपर से नहीं थोपे जा सकते। इनका प्रवाह जीवन के भीतर से निकलकर बाहर की ओर बहना चाहिए।

समाजवाद के लिए सहकारिता आवश्यक है, और सहकारिता के लिए सद्भावना !!

*

*

*

एक ग्वाला (चरवाहा) बाड़े में जमा हुए पशुओं को लकड़ी के डंडे से हांक कर ले जा रहा है।

और इधर देखिए—एक नेता भीड़ में जमा हुए मनुष्यों को अपनी बुद्धि के डंडे से हांकता ले जा रहा है।

भीड़ में बुद्धि नहीं होती, इसलिए वहाँ पर भी ‘पशुत्व’ ही रहता है।

*

*

*

क्या अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा से भिन्न कोई तीसरा सिद्धान्त है ?

मेरे विचार में—चिन्तन करने की विशुद्ध प्रक्रिया—‘सत्य-रूप अनेकान्त है’ और जीवन जीने की विशुद्ध पद्धति—अहिंसात्मक अनेकान्त है ।

इसी विचार के सन्दर्भ में गांधीजी का यह चिन्तन हमारे लिए मनन करने योग्य है—“मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा, इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है ।”

५

महर्षि व्यास ने महाभारत के उपक्रम में उसकी मूल भावना व्यक्त करते हुए लिखा है—

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ।

अहिंसा साधुहिंसेति, श्रेयान् धर्मपरिग्रहः ॥

—संसार में धर्म का प्रतिपादन जीवन निर्वाह के लिए ही किया गया है । अहिंसा अच्छी है या हिंसा, यह निर्णय भी इसी आधार पर किया जायेगा कि आप कैसा जीवन पसंद करते हैं ? यदि अच्छा और सुखी जीवन चाहते हैं तो फिर धर्म का ही पालन करना चाहिए ।

इसी भावना की अभिव्यक्ति आचार्य भद्रबाहु ने यों की है—

“अंगाणं किं सारो ? आचारो !”

—अंग (भगवद् वाणी) का सार क्या है ? उसका मूल अभिप्राय क्या है ? आचार ! जीवन जीने की कुशल पद्धति !

*

*

*

किसी की भलाई की भावना से भी निन्दात्मक और कटु वचन का प्रयोग मत करो ।

किसी गरीब का चूल्हा जलाने के लिए भी क्या कोई अंगारे को हथेली में रख कर देता है ?

जैन विद्वान पं. आशाधरजी ने धर्मात्मा के चौदह लक्षण बतलाए हैं, उनमें पहला लक्षण है—‘न्यायोपात्तधनोपार्जनम्’ (सा. ध. १/१११) न्याय से अर्जित धन का उपयोग करने वाला धर्मात्मा है ।

जब तक अर्थार्जन के तरीके शुद्ध और नीतियुक्त नहीं होते, तब तक धर्म की हजार पुस्तकें भी जीवन में पवित्रता नहीं ला सकती ! गंगा-स्नान और तीर्थ-यात्रा भी उसके कलुष को नहीं धो सकती ।

स्मृतिकार मनु ने सर्वप्रथम समाज और धर्म की इस रीढ़ को स्वस्थ रखने पर बल दिया है—

“योऽर्थशुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ।”

सबसे बड़ी—शुद्धि (पवित्रता) अर्थ-शुद्धि है । मिट्टी और पानी के द्वारा प्राप्त होने वाली शुद्धि कोई शुद्धि नहीं है ।

*

*

*

गुरु शिष्यों को नहीं खोजता, अपितु वही शिष्यों द्वारा खोजा जाता है । संस्कृत की प्राचीन सूक्ति के अनुसार “नहि रत्नमन्विष्यति, मृग्यते ही तत्” रत्न जौहरी को नहीं खोजता, जौहरी ही उसे खोजता है ।

पर आज के गुरु शिष्यों को खोज रहे हैं, रत्न पानेवाले लेने वालों की तलाश में भटक रहे हैं ।

*

*

*

आज शक्ति और ज्ञान अलग-अलग केन्द्रों में बँटे हुए हैं । एक केन्द्र पर राजनीति और विज्ञान खड़ा है और दूसरे केन्द्र पर धर्म और दर्शन ।

जब तक राजनीति और विज्ञान को धर्म और दर्शन से संचालित नहीं किया जाएगा, तब तक मानवजाति के कल्याण की आशा नहीं की जा सकती ।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो से जब पूछा गया कि “शासक को दार्शनिक होना आवश्यक है या राजनीतिज्ञ ? तो उसने बड़े जोरदार शब्दों में कहा—“जब तक तत्वज्ञान और राजनीति का एक ही व्यक्ति में मिलन नहीं होता, तब तक मानवजाति सुख और संतोष की सांस नहीं ले सकेगी ।”

५

मनुष्य पाप क्यों करता है ?

इसका उत्तर संस्कृत के एक विचारक ने दिया है—**सर्वारम्भास्तण्डुलाः प्रस्थमूलाः**—सब काम मुट्टी भर अनाज के लिए होते हैं। मनुष्य को जब भूख सताती है तो वह उसे शान्त करने के लिए पाप, अधर्म सब कुछ करने लगता है—

—‘बुभुक्षितः किं न करोति पापं,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।’

पर वास्तव में क्या पेट की भूख इतनी बड़ी है कि उसके लिए ही यह सब कुछ करना होता है ? वह विकट अवश्य होती है, किन्तु विराट् नहीं होती, बहुत ही सीमित होती है।

मनुष्य के पेट का गड्ढा—जिसे संस्कृत में उदरदरी कहते हैं, बहुत छोटा है, सीमित है, किन्तु मन का गड्ढा—मनोदरी—उदरदरी से बहुत बड़ा है, असीम है और उसी को भरने के लिए अधिकांश पाप होते हैं।

पर आश्चर्य यह है कि पाप करके भी आज तक कोई उस गड्ढे को भर नहीं पाया।

*

*

*

प्रसिद्ध सन्त डायोजिनीज ने एक बार उदरदरी को भरने में संलग्न मनुष्यों को लक्ष्य करके कहा था—“जिन घरों में सामग्री भरी होती है, उनमें चूहे भरे हो सकते हैं। उसी तरह जो लोग बहुत खाते हैं वे रोगों से भरे हो सकते हैं।”

*

*

*

तथागत बुद्ध ने अधिक और बार-बार खाने वाले को रोगी कहा है। भोजन करने वालों की तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं—

१. एक बार-(क्षुधा शान्ति के लिए) खाने वाले—योगी।
२. दो बार (क्षुधा व स्वाद के लिए) खाने वाले—भोगी।
३. बार-बार (बिना किसी विवेक के) खाने वाले—रोगी या पशु।

*

*

*

योगी अर्थात् संयत आत्मा साधक का लक्षण तीर्थकर महावीर ने यही बताया है—

—“अप्यपिण्डासि पाणासि, अप्यंभासेज्ज संजए।”

साधक को कम खाना चाहिए, और कम बोलना चाहिए।

*

*

*

लोग पूछते हैं, आत्मा है तो दिखाई क्यों नहीं देता ?

पर यह बतलाइए—आत्मा को देखने के लिए आपके पास दृष्टि कौन-सी है ? आँखें कैसी हैं ?

बाहर की आँखें तो मैटर हैं, पुद्गली हैं, मूर्त हैं। मैटर से मैटर ही ग्रहण होता है, भौतिक साधन से अभौतिक वस्तु कैसे दिखाई दे सकती है ? देह से देहातीत-अदेही कभी स्पृष्ट हो सकता है ? भगवान् महावीर के समक्ष जब गणधर गौतम ने यही प्रश्न उपस्थित किया, तो समाधान की भाषा में महावीर ने कहा—“नो इन्दियगेज्झ अमुत्तभावा” —आत्मा अमूर्त है, वह मूर्त आँखों से ग्रहण नहीं हो सकती।

*

*

*

आत्मा को देखने के लिए ज्ञान की दिव्य-दृष्टि चाहिए। निर्मल ज्ञान और अनुभूति से ही उसकी सत्ता को देखा जा सकता है।

❧

जो मनुष्य अपने दुःख से आप घबराता है, वह कभी कोई साहसपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।

*

*

*

स्वात्मपीडा की भावना से बुद्धि कुंठित होती है, बौद्धिक कुंठा आत्म-श्रद्धा की हत्या करती है। जिसे अपने आप पर श्रद्धा, विश्वास नहीं, वह अपने हाथों अपना विनाश कर लेता है।

*

*

*

मनोविज्ञान के अनुसार—मनुष्य आत्म-हत्या की ओर तब प्रेरित होता है जब वह आत्म-नियंत्रण की शक्ति खो देता है ।

जो अपने मानसिक आवेग एवं उद्वेग पर नियन्त्रण रख सकता है, वह किसी भी विकट परिस्थिति का मुकाबला करने में समर्थ रहता है ।

धन, बल और बुद्धि जहाँ हार जाते हैं, वहाँ सिर्फ आत्म श्रद्धा ही मनुष्य को सहारा देकर संकटों से उबार सकती है ।

*

*

*

जो दूसरों की हानि करके भी अपना लाभ करना चाहता है—वह निकृष्ट कोटि का मनुष्य है ।

जो अपना लाभ करे, किंतु दूसरे को हानि न पहुँचाए, वह मनुष्य मध्यम कोटि में आता है ।

जो अपने लाभ से दूसरों को भी लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करता रहे, वह उत्तम मनुष्य है ।

कार्य करने की ये तीन पद्धतियाँ हैं । यदि आप तीसरी पद्धति को न अपना सके, तो कम से कम पहली पद्धति को भी मत अपनाइए ।

*

*

*

भौतिक आकांक्षा मनुष्य को भटकाती है । वह अपने अहं और ममत्व की पूर्ति में सुख की अनुभूति करके मन को शान्त करने की चेष्टा करता है । किंतु यह शान्ति और सुखानुभूति वैसी ही है—जैसे शरीर को खुजलाकर खाज का रोगी कुछ क्षण के लिए शान्ति अनुभव करता है ।

*

*

*

ज्ञानी और अज्ञानी में क्या अन्तर है ? दोनों ही देह में समान हैं, अन्य बाहरी अन्तर भी कुछ विशेष नहीं, जो दोनों में भेद कर सके ?

ज्ञानी-मन, इन्द्रिय और देह आदि के द्वारा कर्म करता भी अपने को कर्तृत्व के अहंकार से निर्लिप्त रखता है, वह कर्ता हुआ भी अकर्तापन की अनुभूति करता है ।

अज्ञानी सिर्फ कर्मों का कर्ता ही नहीं, किन्तु जो कुछ नहीं करता है, उन कर्मों का भी अपने को निमित्त मानकर मिथ्या गर्व करता रहता है ।

*

*

*

अकर्मण्यता जीवन को तेजोहीन कर देती है । निष्क्रिय और निठल्ले व्यक्ति का जीवन ऐसा सुनसान लगता है जैसा कि मनुष्यों से रहित सूना घर हो ।

*

*

*

भगवान महावीर ने साधक को कर्तव्य और कर्मण्यता की ओर उत्प्रेरित करते हुए कहा है—**किरियं रोयए धीरो**—क्रिया-अर्थात् कर्मण्यता में रस लेते रहो । अपना सत्कर्तव्य करो, और उसे दिलचस्पी-रुचिपूर्वक करो ।

*

*

*

एक भारतीय तत्त्वद्रष्टा ने तो जीवन की कर्मण्यता को ही तेज माना है । जो निष्क्रिय बैठा-बैठा अन्न खाता है, वह अन्न नहीं, किन्तु पाप खाता है—**पापो नृषद्वरो जनः** (ऐतरेय ब्राह्मण) ।

काम से जी चुराने की वृत्ति आत्मघाती वृत्ति है । श्री प्रेमचंद ने एक कहानी में दो ऐसे व्यक्तियों का चित्र उपस्थित किया है—जो हट्टे-कट्टे समर्थ होते हुए भी जीवन भर दरिद्रता और भुखमरी के चक्र में पिसते रहे । उनमें से एक पिता था, जो एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम करता, और दूसरा था पुत्र, जो एक घण्टा काम करके दो घंटा तक चिलम पीता रहता । गांव भर में लोग उनकी काम से जी चुराने की आदत को जानते थे और इसलिए कोई उन्हें काम पर नहीं लेता था । इधर पिता पुत्र की यह शिकायत थी कि गांव में उन्हें कहीं काम-रुजगार नहीं मिलता । और इसी शिकायत की कुढ़न लिए वे जन्म भर दाने-दाने को तरसते रहे । जीवन में एक दिन भी उन्होंने पेट भर अन्न नहीं पाया, क्योंकि जीवन में एक दिन भी उन्होंने निष्ठापूर्वक श्रम नहीं किया ।

लक्ष्मी उसी के पास आती है जो निष्ठापूर्वक श्रम करता है—**नानाश्रान्तस्य श्रीरस्ति**—जो श्रम नहीं करता, उसे लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती ।

*

*

*

मनुष्य की प्रगति का इतिहास ही श्रमनिष्ठा का इतिहास है। विज्ञान का चमत्कार वस्तुतः मनुष्य की क्रियाशीलता का ही चमत्कार है।

*

*

*

तथागत बुद्ध ने एक बार ऐसे भिक्षु को देखा, जो धर्म की बड़ी-बड़ी बातें कर रहा था, लोगों को इकट्ठा करके उपदेश दे रहा था, किंतु वह स्वयं के जीवन में शील और सदाचार से शून्य था। तथागत ने कहा—“भिक्षु ! क्या कोई ग्वाला, जो जनपद की गायों को गिनता रहता है, कभी उनका स्वामी कहला सकता है ?”

“नहीं, भन्ते ! गोप (ग्वाला) जनपद की गायों की संभाल रखने वाला पास है, वह गो-स्वामी नहीं हो सकता।”

तथागत ने गम्भीर होकर कहा—“भिक्षु ! जो श्रमण सिर्फ धर्म संहिताओं के पाठ गिनता रहता है, वह कभी धर्मफल का स्वामी नहीं हो सकता है; धर्म को जिह्वा से नहीं, जीवन से व्यक्त करो।

*

*

*

एक बार एक आचार्य के पास दो शिष्य आए ! प्रणामपूर्वक निवेदन किया—“भगवन् ! हमारा अध्ययन काल समाप्त हो रहा है, अब हमें अपने क्षेत्र का चुनाव करना है, हमें क्या होना चाहिए, क्या बनना चाहिए ?”

आचार्य अपने दोनों विद्वान शिष्यों को साथ लिए घूमते हुए एक उद्यान में पहुँचे। एक छोटी-सी सुनहली पांखों वाली मधुमक्खी फूलों के आस-पास मंडरा रही थी, उसकी गुनगुनाहट से आचार्य और शिष्यों का ध्यान उसी पर केन्द्रित हो गया ! कुछ ही क्षण बाद गुनगुनाहट बन्द हो गई और मधुमक्खी फूलों पर चुपचाप बैठी रसपान कर रही थी।

आचार्य ने शिष्यों की ओर प्रश्न भरी दृष्टि से देखा—“भद्र ! क्या देख रहे हो ?”

पहले शिष्य ने कहा—“गुरुदेव ! सत्य की जिज्ञासा में हलचल होती है, किंतु सत्य की अनुभूति मौन होती है।”

*

*

*

दूसरे शिष्य ने कहा—“भगवन् ! जब तक सत्ता का रस प्राप्त नहीं होता, बुद्धि जाग्रत रहती है, क्रान्ति में तीव्रता रहती है। पर सत्ता का रस मिलते ही बुद्धि पर नशा छा जाता है, चिन्तन मूक हो जाता है, क्रान्ति दब जाती है।”

गुरु ने प्रसन्नतापूर्वक दोनों शिष्यों के कंधों पर हाथ रखा। पहले से कहा—‘भद्र ! जाओ, दर्शन की गुत्थियाँ सुलझाओ ! तुम दार्शनिक हो।’

—“और तुम अपनी व्यावहारिक बुद्धि से जनता पर शासन करो। तुम्हारी राजनीति से देश को लाभ होगा।” आचार्य ने द्वितीय शिष्य को आशीर्वाद दिया।



परिग्रह और परिग्रहवाद में अन्तर है। परिग्रह उतना हानिकर नहीं जितना कि परिग्रहवाद है। यदि परिग्रह के मूल में श्रम है, व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ है, न्यायनीति है, तो वह परिग्रह समाज कल्याण के लिए भी उपयोगी हो सकता है, किन्तु परिग्रहवाद में आसक्ति का स्वर छिपा है। उसके मूल में शोषण है, उत्पीड़न है, अन्याय है, अत्याचार है। यह स्वयं व्यक्ति के लिए भी घातक है, और समाज एवं राष्ट्र के लिए भी। आज जो समाज में शोषक और शोषित, स्वामी और सेवक, अमीर और गरीब के आत्यन्तिक विभेद की, वैर और विरोध की जो दीवारें खड़ी हैं। ये किसने खड़ी की हैं? परिग्रहवाद ने खड़ी की हैं।



प्रेम अलग चीज है, भौतिक शक्ति और बल अलग चीज है; भौतिक शक्ति के प्रयोग में मनुष्य का अहं बोलता है, दर्प गूँजता है और प्रेम में विनय एवं निरभिमानिता मुखरित होती है। प्रेम अमर है, वह कभी किसी से नष्ट नहीं किया जा सकता। किन्तु शक्ति अपने से बड़ी शक्ति से नष्ट हो जाती है। महात्मा ईसा ने इसी सन्दर्भ में कभी कहा था—तू अपनी तलवार म्यान में रख ले, क्योंकि जो तलवार के बल पर आगे बढ़ते हैं, वे तलवार से ही नष्ट भी हो जाते हैं।



जो समाज अतीत जीवी है, एकमात्र अतीत के ऊपर ही जीवन धारण करता है, मृत विगत पर ही आँखें बिछाए बैठा है, वह कभी प्रगति नहीं कर सकता। आँखें मस्तक में आगे की ओर लगी हैं, इसका अर्थ है—हम वर्तमान में से भविष्य की ओर देखें, सुन्दर भविष्य के निर्माण की योजनाएँ विचारें। यदि अतीत दर्शन ही प्रकृति को अभीष्ट होता, तो आँखें मस्तक के पृष्ठ भाग में पीछे की ओर लगी होतीं।

किंवदन्ती है कि मनुष्य के चरण आगे की ओर होते हैं, तो भूत-प्रेतों के चरण पीछे की ओर मुड़े होते हैं। क्या है, क्या नहीं; यह मीमांसा यहाँ नहीं करनी है। इसका अर्थ यहाँ अभी इतना ही लेना है कि जिन के चिन्तन, मनन और कर्म अतीत की परिकल्पनाओं के आधार पर निश्चित होते हैं, वे आगे नहीं बढ़ सकते, पीछे की ओर ही लौटते हैं। उनके भाग्य में प्रगति नहीं, अप्रगति एवं अवगति ही होती है।

नेहरू जी ने कभी कहा था—अतीत महान् है। अतीत के गौरव से बढ़कर बहुमूल्य वस्तु और कुछ नहीं है। किन्तु जब तब केवल उसी अतीत के गौरव पर निर्भर रहने से बढ़कर खतरनाक चीज भी और कुछ नहीं है।

*

*

*

आज के बालक और बालिकाएँ, आज के युवक और युवतियाँ किसी भी समाज एवं राष्ट्र के आने वाले कल (भविष्य) के प्रतिनिधि हैं। आने वाला कल सुन्दर होगा या असुन्दर, यह उनकी योग्यता पर निर्भर है। कल के निर्माता आज अपने को कल के योग्य बनाएँ। मन, वाणी, कर्म की प्रबुद्धता ही सृजनात्मक प्रवृत्ति का मूल तत्व है।

*

*

*

शक्ति ही विभूति का मूल है। कोई भी समाज तथा राष्ट्र अपनी आन्तरिक एवं बाह्य शक्ति से प्रगति कर सकता है, आगे बढ़ सकता है। शक्तिशून्य शिव भी शव हो जाता है। शव अर्थात् निष्प्राण, निस्तेज, निश्चेष्ट !

*

*

*

भारत की संस्कृति सदा गतिशील रही है, वह कभी भी स्थितिशील नहीं रही। यह भारतीय संस्कृति की प्रवहणशीलता ही है, जिसने अपने में अनेकानेक विभिन्न प्रकृति की संस्कृतियों को भी आत्मसात् कर लिया है, और फिर भी वह अपने मूल स्वरूप को ज्यों का त्यों बनाये हुए है। अपना मौलिक श्रेष्ठत्व उसका क्षीण नहीं हुआ है।

भारतीय संस्कृति गंगा की वेगवती निर्मल धारा है, गंगा में जो भी नदी या नाला मिला, गंगा हो गया। अनेकों को एकत्व प्रदान करने की अद्भुत क्षमता है भारत की सांस्कृतिक परम्परा में।

*

*

*

जीवन का आदर्श क्षुद्र नहीं; विराट होता है—तलैया नहीं, सागर होता है। तलैया के भाग्य में दिन-प्रतिदिन सूख-सूख कर क्षीण होना बदा है। तलैया कभी अमर नहीं रह सकती। सागर वस्तुतः सागर है। अनन्त अतीत से वह गर्ज रहा है, कभी थक कर सोया नहीं है, मरा नहीं है। विराट न कभी थकता है, न सोता है, और न मरता ही है। क्षुद्र नहीं; विराट बनो—तलैया नहीं, सागर बनो।

*

*

*

विस्तार बड़े महत्व की वस्तु है। हर कोई विस्तार पाना चाहता है, प्रसार और प्रचार पाना चाहता है। परन्तु विस्तार की एक समस्या है, वह यह है कि विस्तार किस दशा में हो! क्योंकि प्रायः वस्तुएँ दिशाहीन विस्तार प्रक्रिया में एक निश्चित सीमा के बाद अपने परिमाण और प्रकार दोनों ही गुणों को खो देती है। अतः विस्तार की दिशा का निर्धारण अवश्य होना चाहिए।

*

*

*

जीवन संघर्ष है, संग्राम है। जीवन को कदम-कदम पर तूफानों—झंझावातों का सामना करना पड़ता है, पर्वत जैसी बाधाओं से टक्कर लेनी पड़ती है, नुकीले कांटों की राह पर चलना होता है। जीवन महकते कोमल पुष्पों की सेज नहीं है। जीवन शूली का पथ है, उस पर वही आदमी चल सकता है, जिसका दिल खिलाड़ी का-सा होता है। खेल में हार-जीत होती है, किन्तु खेल सिखलाता है

कि हार में भी जय का घोष क्षीण नहीं होने देना है। यदि किसी को संघर्षरत संसार में आगे बढ़ना है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह खिलाड़ी बने !

*

*

*

भारतीय अध्यात्म दृष्टि बाहर के आवरणों तक ही आबद्ध हो जाने वाली दृष्टि नहीं है। वह एक पारदर्शी दिव्य दृष्टि है, जो देश-विदेश, जातपात, स्पृश्यास्पृश्य, ऊँच-नीच, पाप-पुण्य आदि विरोधी द्वन्द्वों के आर-पार मानव हृदय की निर्मलता के दर्शन करती है। वह रावण में भी अन्दर गहराई में छिपे हुए राम को देख लेती है। मानव ही क्यों, भूतमात्र में भगवान का, एक दिव्य समानता का दर्शन अध्यात्म दृष्टि की विशेषता है, जिसकी तुलना इधर-उधर अन्यत्र कहीं हो नहीं सकती।

*

*

*

भगवान् महावीर ने कहा—साधक को मात्रा होना चाहिए। वह साधक ही क्या, जिसे मात्रा का, सीमा का कोई परिज्ञान न हो ! तप हो, त्याग हो, आचार हो, विचार हो, कुछ भी हो, निरन्तर लक्ष्य में रखो कि वह कितना होना चाहिए ! कितना, भूले कि सर्वनाश !

*

*

*

वैद्य औषधि जानता है, किन्तु यदि वह औषधि (दवा) की मात्रा नहीं जानता है तो वह रोगी को जीवन देगा या मरण ? मात्रा से इधर या उधर दिया गया अमृत भी विष हो जाता है। और ठीक मात्रा में दिया गया विष भी अमृत का काम करता है।

इसी संदर्भ में साधक के लिए आचार्य उमास्वाति ने कहा है—‘शक्तितस्त्यागतपसी’ अपनी शक्ति के अनुसार ही तप और त्याग अपनाना चाहिए। शक्ति के अनुसार ठीक मात्रा में तप और त्याग स्वीकार करने वाला तीर्थकर होता है, अन्य नहीं।

*

*

*

सत्कर्म के लिए, गुरुजनों की ओर से आज्ञा की अपेक्षा, आशीर्वाद की अधिक जरूरत है। आज्ञा नहीं मिलती है, तो अनुज्ञा तो कभी-न-कभी मिलेगी

ही—आज नहीं तो कल ! कल नहीं तो परसों । राम को वनवास के लिए पिता की ओर से कहाँ आज्ञा मिली थी ? तथागत बुद्ध को महाभिनिक्रमण के लिए पिता का कब आदेश मिला था ? आज्ञा का प्रश्न मुख्य नहीं है, मुख्य प्रश्न है आशीर्वाद का । हर पुत्र को और हर पुत्री को, हर शिष्य को और हर शिष्या को गुरुजनों की ओर से आशीर्वाद अवश्य मिलना चाहिए । आज्ञा परिस्थिति पर निर्भर है, कभी नहीं भी मिल सकती है ।

और जो सत्कर्म के लिए समय पर अन्तर्हृदय से आशीर्वाद नहीं दे सकता, वह गुरुजन नहीं, कुछ और होगा ?

सत्कर्म स्वयं ही एक आशीर्वाद है ।

*

*

*

सेवा के सम्बन्ध में एक प्रश्न किया जाता है कि सेवा किसकी करें और किसकी नहीं ? मैं पूछता हूँ—पानी किसको पिलाना चाहिए ? आपका उत्तर होगा प्यासे को । बस, इसी से सेवा का प्रश्न भी हल हो जाता है । सेवा उसकी करनी चाहिए, जिसे सेवा की जरूरत है ।

शराब पीकर गन्दी नाली के कीचड़ में बेहोश पड़े हुए को भी सहृदय भाव से उठाना चाहिए, यह सेवा है । पापी से पापी रोगी की भी सार सँभाल करनी चाहिए, यह सेवा है । अवैध सन्तान को जन्म देने वाली व्यभिचारणी स्त्री की भी प्रसूतिगृह आदि में योग्य देखभाल रखनी चाहिए, यह सेवा है । सेवा पापी या पुण्यात्मा की भाषा में नहीं सोचती । वह सोचती है—करुणा की भाषा में, अन्तर की सहज करुणा सेवा का मूल स्रोत है ।

❧

आध्यात्मिकता भूलों को पहचानने की और पहचान कर उन्हें साफ करने की एक अद्भुत युक्ति है, शक्ति है ।

*

*

*

संपूर्णता अर्थात् पूर्ण पवित्रता साधनापथ का ध्रुवतारा है । दूर तक, बहुत दूर तक चलने पर भी वह दूर ही दूर दिखाई देता है । परन्तु इससे क्लान्त, निराश

या हताश होकर बैठ जाना ठीक नहीं है। पूर्ण पवित्रता का ध्येय रख कर सतत चलते रहना ही साधक का परम कर्तव्य है। जो चलता है, वह एक-न-एक दिन मंजिल पर पहुँचता ही है। देर सबेर का प्रश्न मुख्य नहीं, मुख्य प्रश्न है—पहुँचने का ! 'मार्गस्थो नावसीदति।'

*

*

*

एक दूसरे की उन्नति में, प्रगति में सहयोग देने के लिए अपने को होम देना ही, भारतीय संस्कृति का प्रमुख सन्देश है। जो परस्पर एक दूसरे को भावित करते हैं, सम्मानित करते हैं, सहयोग प्रदान करते हैं, वे देव हैं, वे ही परम श्रेय को प्राप्त होते हैं। 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।'

*

*

*

पराधीनता की मनोदशा हर स्त्री पुरुष के लिए त्याज्य है। पराधीनता की मनःस्थिति मानव को भिखारी बना सकती है। सम्राट नहीं; प्रेरित कर्ता बना सकती है, स्वतन्त्र कर्ता नहीं। भगवान महावीर ने साधक के लिए प्रतिदिन अशरण भावना भाने का उपदेश दिया है। उसका यह अर्थ नहीं; जैसा कि समझा जा रहा है कि "हाय मैं मरा ! मेरा कोई सहारा नहीं। मैं अशरण हूँ, अनाथ हूँ।" अशरण भावना का अर्थ है—साधक तू स्वयं अपना शरण है। दूसरे किसी बाह्य शरण की तुझे क्या अपेक्षा है? तू क्यों कातर-दृष्टि से किसी अन्य से शरण माँगता है। जो कुछ करना है वह स्वयं कर ! तू स्वयं अपना निर्माता है, तुझे दूसरा कौन उठाएगा? तू खुद उठ, दौड़ लगा, और अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर !

जैनदर्शन को तो ईश्वर की भी दीनतापूर्ण परमुखापेक्षिता सह्य नहीं है।

*

*

*

राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अर्थ सब की अन्ध-समानता नहीं है, अपितु अपनी-अपनी उन्नति एवं प्रगति के लिए समान सुविधा का होना है, प्रगतिपथ की बाधाओं का दूर होना है। स्वतन्त्र राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति अभ्युदय के लिए स्वतन्त्र है, बन्धन मुक्त है। जो जैसा जितना करना चाहे, कर सकता है, कोई

बन्धन नहीं। बन्धन ही नहीं, वैसा करने के लिए उसे उचित सहयोग एवं सुविधा भी मिलती है। आवश्यकता अन्तर् को जगाने की, कर्मशक्ति को क्रियाशील करने की है।

*

*

*

मनुष्य को जो भी बुद्धि, शरीरशक्ति एवं संपत्ति मिली है, वह केवल अपने लिए ही नहीं है। उसमें आस-पास की सर्वसाधारण जनता का भी अपना एक भाग है। अतः वह भाग जन समाज को मिलना चाहिए। जो निजी सम्पत्ति मानकर उक्त सब शक्तियों को केवल अपने लिए ही दबाए बैठा है, वह समाज का चोर है। महर्षि नारद ने उसी के लिए कहा है—‘स स्तेनो दण्डमहर्ति।’

सहृदयभाव से सुख-दुःख का परस्पर बँटवारा बिखरे हुए विश्व को सामूहिक कुटुम्ब की दिशा में प्रगति देता है।

एक परिवार अर्थात् एक सुख, एक दुःख। एक हँसे तो सब हँसें, एक रोये तो सब रोयें। अखण्डता, अभिन्नता ही परिवार की परिभाषा है।

❖

आज राज्य धर्म निरपेक्ष होकर चल रहा है, पर धर्म, राजनीति का पुछल्ला पकड़े हुए उसके पीछे-पीछे चलने की चेष्टा कर रहा है।

जो धर्म राजसत्ता का मार्ग-दर्शक था, वह उसका अनुगमन करने वाला बन गया है। और क्या यह परिवर्तन स्पष्ट नहीं बता रहा है कि धार्मिकों का तेज क्षीण हो रहा है और वे अपने निस्तेज व्यक्तित्व से धर्म को भी लाँछित कर रहे हैं।

*

*

*

भक्त ने पूछा—“भगवन् ! तुम किन बातों से प्रसन्न होते हो ?”

भगवान् ने उत्तर दिया—“मैं चार बातों से प्रसन्न होता हूँ।

१. अपने से बड़ों के प्रति सहनशील होने से, २. अपने से छोटों के प्रति दया करने से, ३. अपने समान पुरुषों के साथ मित्रता करने से, और ४. समस्त प्राणियों को समान दृष्टि से देखने से।

*

*

*

यह देखो, एक पाषाणखण्ड पड़ा है, इसमें भी गहरी शान्ति है, समदर्शिता भी है, किसी से कुछ भी अपेक्षा नहीं, इसे कोई भी भला-बुरा दृश्य प्रभावित नहीं कर सकता, कोई भी अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण उसको चंचल नहीं बना सकता ।

क्या पाषाण खण्ड की यह शान्ति सच्ची शान्ति है ? क्या यह जीवित शान्ति है ?

नहीं ! वह शान्ति नहीं, निष्क्रियता है, जड़ता है । वह जड़ शान्ति है, जड़ समदर्शिता है ।

तुम अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्य देव हो, तुम्हें यह जड़ शान्ति, जड़ समदर्शिता नहीं चाहिए । तुम्हारा ध्येय वह जीवित शान्ति एवं जीवंत समदर्शिता है, जिसमें विश्व के मंगल एवं कल्याण का स्वर मुखरित हो रहा है, विकास का अभियान चल रहा है ।



विचार के आलोक में

मन और मस्तिष्क का मिलन

जैन-धर्म मन और मस्तिष्क का मिलन करता है, वह ज्ञान और क्रिया को-अर्थात् विवेक और उत्साह को जीवन रथ के दो चक्र मानता है। ज्ञान से मार्ग मिलता है, क्रिया से गति।

जब तक जीवन में ज्ञान और क्रिया का सम्यक् समन्वय नहीं हो पाता, वह जीवन, वह ज्ञान, वह क्रिया भटकते रहते हैं। ज्ञान गति-शून्य और साधना विवेक शून्य रहता है।

एक दिन भारतीय साधक ने हृदय को बुद्धि से और बुद्धि को हृदय से बाँध रखा था। उसके जीवन में चमक थी, तेजस्विता थी। ज्ञान प्राणवंत था और साधना ज्योतिर्मय थी।

वर्तमान में स्थिति कुछ गड़बड़ा रही है। भावनाशील साधक क्रिया-काण्ड के प्रवाह में बह रहा है, बिना सोचे-समझे अंधेरे में भाग रहा है। मन्दिरों में पूजा की घंटियाँ बज रही हैं, स्तोत्रों की ध्वनियाँ वायु-मण्डल में गूँज रही हैं, उपाश्रय और धर्म-स्थानकों में सामायिक-संवर की भरमार है, दया-पोषध आदि की चहल-पहल है; किन्तु जब तक उसमें प्राण नहीं जग रहे हैं, चेतना विकसित नहीं हो रही है, ज्ञान और विवेक का प्रकाश नहीं जगमगा रहा है, तब तक वह तेली के बैल की तरह चक्कर लगाने के सिवाय और किसी महत्व का नहीं है।

इधर पर्युषण में दया होती है और दया वालों के लिए रातभर भट्टियाँ जलाई जाती हैं। उधर भड़भूँजे की भाड़ और हलवाई की भट्टियाँ बन्द कराने का प्रयत्न चालू है। यदि आज चतुर्दशी है, तो बहनें घर में बुहारी देने का, कचरा साफ

करने का त्याग करती हैं, किन्तु वे यह नहीं समझ पातीं कि कचरा जमा होने से जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति बढ़ेगी या घटेगी, उससे हिंसा कम होगी या अधिक? गन्दी नालियाँ अगर एक दिन नहीं धोई गईं, तो उससे जीवों की उत्पत्ति अधिक होगी। अहिंसा नहीं कहती कि कचरा साफ न करें, गन्दी नालियाँ न धोएँ, वह तो कहती है कि गन्दगी पैदा ही मत करो।

वास्तव में आज विवेक की आँख बन्द हो गई है, और इसीलिए साधना की तेजस्विता खत्म हो चुकी है। आवश्यकता है, साधना में विवेक जगे, और ज्ञान में गति आए। इस प्रकार मन और मस्तिष्क का मिलन किया जाए, हृदय और बुद्धि को एक सूत्र में पिरोया जाए।

खण्डित मानव

कुछ मनुष्य अपने आप में बन्द हैं, सीमित हैं। उनकी दृष्टि शरीर की नहीं—सी काल-कोठरी में बन्द है। अपने घेरे से बाहर झाँकने की क्षमता भी आज उसमें नहीं रही है। वह अपने भोग-विलास, आमोद-प्रमोद में ही मगन है। अपनी सुख-सुविधा के लिए वह समाज का शोषण करते हैं, राज्य की चोरी करते हैं, गरीबों का गला घोटते हैं, अपने लिए, सिर्फ अपने आराम और नाम के लिए। दृष्टि का यह अत्यन्त सीमित दायरा है।

कुछ मनुष्य परिवार के संकीर्ण घेरे में जकड़े हुए हैं। उन्हें अपनी चिन्ता है, अपने परिवार की चिन्ता है। “हम पिया, हमारा बैल पिया और कुआँ ढह पड़े”—इसी गुरुडम के दीक्षित चेले हैं। परिवार के सामने न न्याय का मूल्य है, न योग्यता का कोई मापदण्ड है। भाई-भतीजावाद ही उनका एकवाद है, बाकी सब विवाद मानते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज और राष्ट्र की नींव को काटते हैं। यह संकुचितता की दूसरी घेराबंदी है।

कुछ मनुष्य जातिवाद की कारा में बन्दी हैं। अपनी जाति के सिवाय सभी को निम्न और असंस्कृत मानते हैं। श्रेष्ठता का क्षेत्र उनकी विरासत है। ब्राह्मण के चौके में यदि ब्राह्मणेतर आ गया, तो वह सब भोजन-ओजन अपवित्र हो गया। यह सब मनुष्य के लिए ही है, भले ही कुत्ता, बिल्ली और चुहिया कितने

ही चक्कर काट जाएँ, चौका अशुद्ध नहीं होता। वैश्य और शूद्र भी तो अपनी-अपनी जातियों की चकबंदी बना रहे हैं। अपनी जाति-बिरादरी का यदि कोई उम्मीदवार है, तो बस वोट तो उसे ही जाएँगे, भले ही उसमें कोई योग्यता न हो, किन्तु अपनी बिरादरी का है।

कुछ मनुष्य पंथवाद, संप्रदायवाद के तहखानों में बन्द हैं। वे धर्म और संप्रदाय के नाम पर जिहाद करते हैं, खून से खेलते हैं। संप्रदायवाद के जहर से समूची मानव जाति को दग्ध कर रहे हैं। धर्म और पंथ जो प्रेम का द्वार था, उसे भेद की दीवार बना रहे हैं।

इस प्रकार आज मनुष्य-मनुष्य के बीच अनेक दीवारें खड़ी हैं, भाई-भाई अपने अलग घेरे में बन्द खड़ा है। समूची मानव जाति खण्डित और विभक्त हो रही है। विराट् सागर से बिछुड़ कर जैसे हर बूँद अपना अलग अस्तित्व कायम करना चाहती है। जब तक संसार के अंचल से यह व्यक्तिवाद, परिवारवाद, जातिवाद और पंथवाद की कारा नहीं टूटती, मानव जाति सुख और शान्ति से नहीं रह सकती।

शिकायत है

जब किसी पारिवारिक जीवन को देखता हूँ, तो वहाँ भी भय का वातावरण मिलता है। परिवार का हर एक सदस्य आतंकित और आशंकित है, एक-दूसरे से शिकायत करता है।

सास को बहू से शिकायत है—बहू आज्ञा का पालन नहीं करती, मुँह तोड़ जवाब देती है, और मेरे लड़के को सदा मेरे विरुद्ध बहकाती है।

दुख-दर्द के आँसुओं से भीगी बहू की आँखें सास के प्रति शिकायत करती हैं—उसने एक क्षण भी चैन नहीं लेने दिया, वह मुझ पर और मेरे माँ-बाप पर व्यंग्य कसती रहती है।

इसी तरह पिता पुत्र की, और पुत्र पिता की शिकायत करता है।

सामाजिक क्षेत्र में भी यह रोग बहुत व्यापक है। पुरानी पीढ़ी को नयी पौध से हमेशा शिकायत रही है—आज के पढ़े-लिखे छोकरे उन्हें आदर की दृष्टि से

नहीं देखते, पुराने रीति-रिवाजों को नहीं मानते और हर बात में अपनी टाँग अड़ाते हैं।

नयी पौध को भी शिकायत है—बुजुर्ग हमें बढ़ने से रोकते हैं, वे हमारे मस्तिष्क को उन्हीं सड़ी-गली परम्पराओं से जकड़ कर रखना चाहते हैं। उनमें स्वयं साहस नहीं और हमारे साहसिक कार्यों को पसन्द भी नहीं करते।

राजनीति के कण-कण में भी यही विष घुला हुआ है। जनता सरकार की आलोचना करती है—सत्तारूढ़ शासक ईमानदारी से अपना दायित्व नहीं निभा रहे हैं, वे अपना घर भरने का प्रयत्न करते हैं, जनता की तकलीफों से उन्हें कोई वास्ता नहीं है, सिर्फ चुनाव के समय वे जनता के सेवक हैं, और बाद में शासक।

उधर शासक दल भी यही स्वर आलाप रहा है—जनता सहयोग नहीं करती, भ्रष्टाचार और लाल फीताशाही मिटाना जनता का ही काम है, वह अपनी जिम्मेदारी नहीं समझ रही है।

इसी प्रकार दुकानदार को ग्राहक से और ग्राहक को दुकानदार से, मजदूर-मालिक, सेठ-मुनीम और छात्र-शिक्षक—सभी एक दूसरे से शिकायत करते हैं। मजा तो यह है कि अपनी शिकायत पर किसी का ध्यान ही नहीं है।

एक ओर अल्प दृष्टि का रोग है, जहाँ व्यक्ति अपने घेरे से बाहर निकल कर नहीं सोचता, वहाँ दूसरी ओर इतनी दूर दृष्टि का रोग भी बढ़ गया है कि व्यक्ति को अपना कुछ भी दिखाई नहीं देता। स्वार्थ के समय सिर्फ वह अपने तक देखता है और बुराई के समय सिर्फ दूसरी तरफ, और जब तक दृष्टि की यह बीमारी रहेगी, शिकायत का रोग मिट नहीं सकता।

जिसका जूता, उसका हीरा !

मुगल युग की एक घटना है, दिल्ली का बादशाह हार गया, कोहेनूर विजेता के हाथ में जा पहुँचा। विजेता ने गर्वस्फीत नेत्रों से निहारा—कोहेनूर हीरे की कीमत क्या है ?

पराजित बादशाह ने प्रश्न को दुहराते हुए कहा—कोहेनूर की ? और फिर धीरे से उत्तर देते हुए कहा—एक जूता !

विजेता इस गूढार्थ को नहीं समझ सका, उसने आश्चर्य भरे स्वर में पूछा—इसका मतलब? पराजित बादशाह ने व्यंग्य की भाषा में उत्तर दिया—इसका अर्थ स्पष्ट है—“जिसका जूता, उसका हीरा।” एक दिन मेरे पूर्वजों ने क्षत्रिय राजाओं के हाथ से अपने जूते के बल पर इसे छीना था। आज मेरे जूते से तुम्हारे जूते में अधिक ताकत है, इसलिए यह हीरा तुम्हारे हाथ में है। और जब तुम्हारे जूते से भी अधिक ताकतवर कोई दूसरा जूता आएगा तो उस समय यह हीरा उसके हाथ में होगा।”

बादशाह इस करारे व्यंग्य से शर्मिन्दा हो गया।

स्वार्थ का विस्तार : परमार्थ

एक महान् आचार्य ने कहा है—

अहंता-ममता-त्यागः, कर्तु-यदि न शक्यते ।

अहंता-ममता-भावः सर्वत्रैव विधीयताम् ॥

पहली बात है—अपने अहंकार और ममत्व का त्याग कर दो, मैं और मेरे-पन को समाप्त कर दो। अब यदि अहं इतना उर्जस्वित है, ममकार इतना गहरा है कि उसे नहीं छोड़ सकते, तो फिर ऐसा करो कि उस अहं को, उस ममत्व को विस्तृत बना दो। जो अहं अपने “मैं” के घेरे में बन्द है, जो ममकार “मेरा” की चाहरदीवारी में घुट रहा है, उसे परिवार, गाँव, समाज, राष्ट्र और विश्व में फैला दो। जो तुम्हारा दोष था, वह गुण बन जाएगा।

लाल या नीला रंग जब गाढ़ा होता है, पिंडीभूत होता है, तो वह काली झाँई देने लगता है, आँखों को चुंधियाने लगता है, लेकिन जब उसे फैला दिया जाता है, तो वह हलका होकर बड़ा ही सुहावना दीखने लगता है।

यही बात, स्वार्थ के सम्बन्ध में है। यदि अपने स्वार्थों का त्याग नहीं कर सकते, तो फिर उसमें सबका स्वार्थ देखो। अपनी भलाई की बात ही नहीं, सबकी भलाई की बात सोचो। विश्वात्मा के साथ ऐक्यानुभूति करो। ‘अपने’ क्षुद्र घेरे से निकाल कर उसे विश्व के रंगमंच पर फैला दो, अहंकार और ममकार का यह फैलाव उसके जहर को मिटाकर अमृत बना देता है, स्वार्थ का यह विस्तार ही परमार्थ बन जाता है।

तपस्या सौदा नहीं है

त्याग और तपस्या का यह अर्थ नहीं है कि उपवास के पहले और दूसरे दिन के धारणे-पारणे में मिलने वाले प्रकाम रस की मधुर कल्पनाओं से मन को गुदगुदाया जाए। यदि खाने-पीने के लिए ही तपस्या की जाती है, तो यह काम तो उसके बिना भी हो सकता है।

हजारों लाखों का दान करने वाले यदि इस भावना से करते हैं कि वे इस लोक में यशस्वी और परलोक में शालिभद्र के समान ऋद्धिशाली बनेंगे, तो मैं कहता हूँ, वे धोखे में हैं।

यदि कोई पत्नी का त्याग करके इसलिए ब्रह्मचारी बनता है कि यहाँ पर वह ब्रह्मचारी बनकर पूजा भी जाए, और स्वर्ग में अप्सराएँ, देवांगनाएँ उसकी प्रतीक्षा में फूल मालाएँ लिए खड़ी रहें, तो मेरा निवेदन है कि वे ब्रह्मचारी जी जरा सोच लें—

जैन धर्म ने त्याग, तपस्या और दान को सौदा नहीं माना है। यहाँ का योग, भोग के लिए नहीं, किन्तु अयोग के लिए है। मुक्ति, मुक्ति के लिए नहीं, किन्तु विमुक्ति के लिए है। इस विषय में सौदेबाजी करने वाले—

न इधर के रहे, न उधर के रहे
न खुदा ही मिला, न विसाले सनम।

भगवान् महावीर की भाषा में—“नो हव्वाए, नो पाराए।” न इस जीवन में ही कुछ सुख भोग सकेंगे, और न अगले जीवन में।

इसलिए त्याग निष्काम होना चाहिए। मुक्ति के लिए होना चाहिए और उस मुक्ति की परिभाषा होनी चाहिए—वासनाओं से मुक्ति, कषायों से मुक्ति, रूढ़ परम्पराओं से मुक्ति और सर्व विभावों से मुक्ति!!

अपना सुधार :

मनुष्य की दुर्बलता समझिए या कुछ आदत समझिए कि वह हमेशा दूसरों की चिन्ता करता है। संस्कृत की एक सूक्ति है—

“गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम्।”

पहाड़ जलता दिखाई देता है, किन्तु पैरों के नीचे लगी आग नहीं दिख पाती । वह बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, दुनियाँ के कल्याण और सुधार की योजना बनाता है, किन्तु अपने कल्याण-सुधार की बात सोचने तक की फुर्सत उसे नहीं है ।

एक लोक कथा है—

एक आदमी झाड़ा-फूँकी का काम करता था । एक रात इतने जोर की वर्षा आई कि झोंपड़ी में चारों ओर से पानी टपकने लगा । स्त्री-बच्चे सब परेशान हो गए । स्त्री ने उसे छप्पर ठीक करने के लिए बहुत कुछ कहा, उसने सुबह उसकी मरम्मत करने का आश्वासन दिया, किन्तु सुबह हुआ और भूल गया । पत्नी से इस बात पर हमेशा तकरार होने लगी, रात को दिन में करने का वादा करता, और दिन हुआ कि आलस कर जाता ।

एक दिन झाड़-फूँक करता हुआ यह मंत्र उच्चार रहा था ।

“आकाश बाँधू पाताल बाँधू, बाँधू जल की खाई ।

इतना काम नहीं करूँ तो, हनुमान जी की दुहाई ॥”

स्त्री ने उसकी यह डींग सुनी तो वह गर्मा उठी, पीछे से पीठ पर एक धोस जमाया और गर्ज पड़ी कि—यहाँ तो दुनिया भर को बाँध रहा है, परन्तु इतने दिन हुए घर का एक टूटा हुआ छप्पर भी तेरे से नहीं बाँध रहा है ।

लगता है आज हम सब की यही स्थिति हो रही है । स्वर्ग-नरक की बातें, समाज और राष्ट्र के सुधार की योजनाएँ बनाते जा रहे हैं, लेकिन अपने आप को नहीं सुधार रहे हैं ।

जैन-धर्म का हृदय :

जैन धर्म ने व्यक्ति को महत्व दिया है, देश और काल को भी महत्व दिया है, किन्तु उसने जिस सर्वोपरि सत्य को महत्व दिया है, वह है गुण—शक्ति । वह व्यक्तिवादी नहीं है, किन्तु शक्तिवादी—गुणवादी है । जिस व्यक्ति में आत्मा की शक्तियों का विकसित स्वरूप दर्शन होता है, वह उसी शक्ति मंडित व्यक्ति-व्यक्तित्व को महत्व देता है ।

देह, देश, काल और परिस्थितियाँ हमेशा बदलते रहते हैं। वृँकि यह जड़ हैं, इनको महत्व देने का अर्थ होता है, जड़ को महत्व, जड़ पूजा। जैन धर्म सदा ही चेतन पूजक रहा है। वह त्रिभु की पूजा करता है, वैभव की नहीं।

तीर्थङ्करों के शरीर, संहनन, अतिशय आदि की चर्चा आती है, और वह बहुतों को आकृष्ट भी करती है, किन्तु मैं पूछता हूँ कि वह स्व-परिणति है, या पर-परिणति ?

बात जरा गहरी है, किन्तु समझने की है। तीर्थङ्करों के ऐश्वर्य का वर्णन जिनत्व का वर्णन नहीं है, आत्मा की स्व-परिणति का अंकन नहीं है। यह शब्द मेरे नहीं, किन्तु एक वरिष्ठ जैनाचार्य के हैं—

देवागम - नभोयानं चामरादि - विभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

आचार्य समन्तभद्र

प्रभो ! मैं तुम्हारे चरणों में इसलिए नत मस्तक नहीं हो रहा हूँ कि तुम्हारे पास देव आते हैं, दुन्दुभि-नाद होता है, छत्र-चामर आदि अष्ट प्रातिहार्य तुम्हारे साथ-साथ रहते हैं, फूलों की वर्षा होती है, और तुम स्वर्ण कमलों पर पैर रखकर गमन करते हो, यह सब नाटक तो एक इन्द्रजालिया, एक मायावी जादूगर भी कर सकता है।

आचार्य ने आगे कहा है कि तुम्हारी जो महत्ता है, वह तो इस बात में है कि ऐश्वर्य और विभूतियों के इस कीचड़ में भी तुम निर्लेप रहते हो। तुमने जिन आत्म-शक्तियों को प्रबुद्ध किया है, एक ज्योति जलाई है, जब मैं उस अनन्त शक्ति का दर्शन करता हूँ, तो तुम्हारे चरणों में अपने आप सिर झुक जाता है।

आचार्य ने इस प्रशस्ति में जैन-दर्शन का हृदय रख दिया है। वह ईश्वर को बाहरी ऐश्वर्य में दबाना नहीं चाहता, किन्तु उसके आन्तरिक ऐश्वर्य को उभार कर देखना चाहता है। इस दृष्टि से जैन-धर्म व्यक्ति-पूजक नहीं, किन्तु वह सदा से गुण-पूजक रहा है।

बच्चों सी नादानगी ?

नफरत से नफरत मिलती है, प्रेम नहीं मिलता । क्रोध से क्रोध ही मिलता है, शान्ति व स्नेह नहीं मिलता । ढाई हजार वर्ष पहले का यह उद्घोष आज का मनुष्य सुनकर भी अनसुना कर रहा है ।

आज युद्ध की आग जला कर शान्ति की शीतलता पाने का सपना देखा जाता है । मनुष्य बुराई करके उसका परिणाम भलाई में चाहता है । बच्चे जैसी इस अबोधता पर सयाने लोगों को हँसी आती है ।

एक बच्चा जेठ की दुपहरी में खेलता हुआ घर आया । और शरीर पर से सारे वस्त्र उतार कर धूप में खड़ा हो गया । माता ने पूछा—बेटा ! धूप में क्या कर रहा है ?

बच्चे ने कहा—कुछ नहीं, जरा पसीना सुखा रहा हूँ ।

माँ ने हँस कर कहा—बेटा ! क्या कभी धूप में पसीना सूखता है ?

क्यों नहीं माँ ? जब गीले वस्त्र धूप में सूख जाते हैं, तब पसीने से भीगा हुआ शरीर क्यों नहीं सूखेगा ?

नादान बच्चे की बात पर आप लोग हँस रहे हैं, किन्तु वही भूल आप लोग तो नहीं कर रहे हैं ?

क्या आप वैर को वैर से शान्त करना चाहते हैं ? काम से काम को बुझाना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो फिर वही नादानगी है ।

इसलिए भगवान महावीर ने कहा है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे ।

माया मज्जव-भावेण, लोहं संतोसओ जिणे ॥

क्रोध को शान्ति से, अहंकार को नम्रता से, कपट को सरलता से और लोभ को संतोष से जीतो । यही सुख और शान्ति का मार्ग है ।

शासन का उद्भव

यह बात सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि शासनत्र के नीचे अभाव, संघर्ष, द्वन्द्व एवं आक्रमण छिपे रहे हैं । मनुष्य की दुर्बलता, अस्मिता और आक्रामक भावनाओं ने ही उसे जन्म दिया है ।

जैन आगमों में यौगलिक युग का वर्णन आता है, उनमें कोई नेता, शासन नहीं होता था, सब स्वतंत्र और अपने जीवन को व्यवस्था के अनुसार स्वतः संचालन करते थे। किन्तु जब आवश्यकताएँ बढ़ीं, वस्तुओं का अभाव हुआ, तब संघर्ष और द्वन्द्व ने जन्म लिया, आक्रामक वृत्तियाँ जगीं, सबल निर्बल को दबाने लगा। उन्हीं परिस्थितियों में शासन-तंत्र का उद्भव हुआ।

हमारे यहाँ देवताओं का वर्णन किया गया है, बारहवें देवलोक के ऊपर सभी देव अहमिन्द्र होते हैं, उनमें कोई छोटा-बड़ा, स्वामी-सेवक नहीं होता। इस वर्णन से यह ध्वनित होता है कि मानव जब जीवन की ऊँचाई पर पहुँच जाता है, तो उसके लिए नियंत्रण और शासन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

जिनकल्पी और स्थविरकल्पी की व्यवस्था से भी यह प्रकट होता है, कि जिनकल्पी जो स्वयं अपने जागृत विवेक से चलता है, उसके लिए किसी शासन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्थविरकल्पी—जिसके कि जीवन में कुछ दुर्बलताएँ, प्रमाद हैं, उसके लिए संघ व्यवस्था की गई है।

संस्कृत की एक सूक्ति है—

सर्वो दण्डेन जितो लोकः ।

संसार डंडे से जीता जा सकता है, किन्तु मेरा विचार है कि यह डंडा मनुष्य के लिए नहीं, किन्तु मनुष्य के रूप में जो पशुता धूम रही है, उसके लिए है। पशु को बाड़े में बन्द करना है, तब भी डंडा चाहिए, बाड़े से बाहर निकाल कर चराने के लिए जंगल में ले जाना है, तब भी डंडा चाहिए। पशु के दाँ-बाँ, आगे-पीछे, चारों तरफ डंडा घूमता रहता है। लेकिन मनुष्य के लिए यह नहीं हो सकता। उसका तंत्र ऊपर से नहीं लादा जाना चाहिए, किन्तु भीतर से, हृदय से ही उद्भूत होना चाहिए। आज शासन-मुक्ति, तंत्र-मुक्ति का जो विचार पनप रहा है, वह वास्तव में ही मानवता का महत्वपूर्ण दर्शन है।

इन विचारों का यह अर्थ नहीं है कि हम सब शासन मुक्त होकर उच्छ्वल भाव स्वच्छन्द विहार करने लगे। शासन होना चाहिए, जरूर होना चाहिए किन्तु वह शासन 'पर' का नहीं, 'स्व' का ही होना चाहिए, दर्शन की भाषा में आत्मानुशासन होना चाहिए। वह अन्तर से उद्भूत होना चाहिए।

*

*

*

आज मनुष्य बहिर्दृष्टि होकर चल रहा है, वह अपनी भूलों, गलतियों और दोषों से आँख-मिचौनी कर रहा है। दूसरों के जीवन में छिद्र देखता है, दोष ढूँढ़ता है।

जब जीवन में अन्तर्दृष्टि आती है, तो आनन्द आता है, उज्ज्वलता आती है। वह अपने अन्तर में भ. महावीर का दर्शन करता है चौबीसी का, नहीं-नहीं अनन्त चौबीसी का दर्शन करता है। देव, गुरु-धर्म को भी अपने ही अन्तर में देखता है। वह ज्यों-ज्यों आत्म सागर की अतल गहराई में उतरता है, त्यों-त्यों नये-नये रत्न पाता है। हृदय को जितना माँजता है, उतना ही पवित्र होता है।

वह जब बाहर की ओर झाँकता है, तो उसे संसार में दोष ही दोष नजर आते हैं, और वह जिन दोषों को दूसरों में देखता है, एक दिन स्वयं भी उनका शिकार हो जाता है।

जीवन एक दर्पण है। दर्पण के सामने जैसा बिम्ब आता है, उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में अवश्य पड़ता है। जब आप दूसरों के दोषों का दर्शन करेंगे, चित्तन और स्मरण करेंगे तो उनका प्रतिबिम्ब आपके मनो रूप दर्पण पर अवश्य चित्रित होता रहेगा। प्रकारान्तर से वे ही दोष चुपचाप आपके जीवन में अंकुरित हो जाएँगे।

इसीलिए भ. महावीर का यह अमर-सूत्र हमें सर्वदा स्मरण रखना चाहिए—
संपिक्खए अप्पगमप्पएणं

सदा अपने से अपना निरीक्षण करते रहना चाहिए। दृष्टि को मूँद कर अन्तर्दृष्टि से देखना चाहिए। आत्मा का अनन्त सौंदर्य दिखाई पड़ेगा।

धर्म की सार्थकता

वह धर्म क्या, जो जीवन के कण-कण में न रम सके? वह धर्म क्या जो परिवार, समाज और राष्ट्र को जीने की कला नहीं सिखा सके?

जैन-धर्म ने बताया है कि धर्म वह है जो जीवन के हर क्षेत्र को पवित्र कर दे। धर्म वह सुगंध है जिसको जहाँ भी रखो, महक देगा। जीवन की हर साँस और घड़कन में मुखरित होगा।

आज धर्म का रूप यही बन गया है कि धर्म स्थान में घुसने पर उसकी फटी-पुरानी चादर ओढ़ली जाए है, और उससे निकलते ही उतार कर रख दी जाए ।

एक बीमार अस्पताल में भरती हुआ, दवा लेने पर स्वस्थ हो गया और डाक्टर ने छुट्टी दे दी । ज्यों ही अस्पताल के दरवाजे से बाहर कदम रखा कि पुनः बीमार हो गया । अब हालात यह हो गई कि अस्पताल में जितने दिन रहे तब तक आराम ! और जब-जब स्वस्थ होकर बाहर निकलता है तो बीमार !

तो क्या यह जीवन अस्पताल में ही पड़े-पड़े जिन्दगी गुजारने के लिए है ? उस जीवन में हँसी और आनन्द नहीं आ सकता ।

यही हालत आज हमारे धार्मिकों की हो रही है । जब तक धर्म स्थान में हैं तब तक, दया, समता, अपरिग्रह आदि की बड़ी ऊँची-ऊँची बातें बताई जाती हैं । प्राणी मात्र के साथ मैत्री की प्रार्थना की जाती है किन्तु ज्योंही धर्म स्थान से बाहर निकले कि क्रोध, अभिमान घृणा की बीमारी आ घेरती है । ईर्ष्या और द्रोह की जलन पैदा हो जाती है ।

तो यह भारी बीमारी है, इस प्रकार की धर्म साधना से जीवन में आनन्द और उल्लास नहीं चमक सकता । धर्म की साधना तब सफल होगी, जीवन का प्रत्येक कोना उसकी सुवास से सुगन्धित होगा, जीवन के हर क्षेत्र में उस धर्म की छाप होगी ।

धर्म की परिभाषा

आचार्य कुन्दकुन्द से पूछा गया—‘धर्म क्या है ?’ बड़े सहज ढंग से उन्होंने बताया—‘वत्यु सहावो धम्मो’—वस्तु का अपना स्वभाव, निज गुण—धर्म है ।

अग्नि का स्वभाव तेज है, अग्नि किसी भी स्थान में जलाएँ, किसी समय में जलाएँ उसमें से तेज प्रस्फुरित होगा ही । स्थान या काल उसके स्वभाव को बदल नहीं सकते । वह चाहे ब्राह्मण के घर में जले चाहे शूद्र के घर में, चाहे तीर्थ स्थान पर जले चाहे घर में, चाहे विवाह मंडप में जले चाहे श्मशान में, चाहे दिन में जल या रात में—उसका स्वभाव कभी भी क्षीण या नष्ट नहीं हो सकता ।

आभप्राय यह हुआ कि जो सदा, सर्वत्र सहज भाव से प्रवाहशील रहे वह धर्म है। आत्मा का अपना धर्म क्या है? प्रश्न हो सकता है। वही बात यहाँ दुहरानी होगी, स्वभाव में रहना।

प्रश्न अब आगे बढ़ता है—स्वभाव क्या है? स्वभाव वह है, जो कभी बदले नहीं। दूसरे शब्दों में जिसके लिए किसी कारण की जरूरत न हो। यह प्रश्न नहीं हो सकता कि अग्नि गर्म क्यों है?

यदि मैं आपसे प्रेमपूर्वक बात करता हूँ तो आप नहीं पूछेंगे कि प्रेमपूर्वक क्यों बोल रहे हो? किन्तु मैं क्रोध में आकर झगड़ा करता रहा तो आप जरूर पूछेंगे कि महाराज! क्या बात हुई? किसलिए झगड़ रहे हो? यदि मैं चुपचाप शान्ति से बैठा हूँ तो आप नहीं कहेंगे कि महाराज, शान्त क्यों बैठे हो। किन्तु यदि बोलता हूँ, लड़ाई करता हूँ तो जरूर उसका कारण पूछा जाएगा।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शान्ति स्वभाव है, उसके लिए किसी कारण की जरूरत नहीं। अशान्ति, विग्रह यह विभाव है, विभाव के लिए जरूर कोई कारण बनेगा।

आत्मा जब तक स्वभाव में रहता है, धर्म है। अग्नि जब तक गर्म रहती है अग्नि है, किन्तु जब वह विभाव में आ जाती है तो अधर्म में प्रवेश कर जाती है, अग्नि पर पानी या अन्य कुछ पदार्थ डालकर शान्त कर दिया जाता है तो वह अग्नि नहीं रहती। वह भस्म या कोयला बन जाती है।

इसलिए आचार्य ने धर्म की परिभाषा की है—“वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।”

दुहरा व्यक्तित्व

एक लड़के को स्कूल में पढ़ाया गया—पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है। लड़का घर पर पहुँचा तो पिता ने पूछा—आज क्या पाठ पढ़ा है?

लड़के ने कहा—पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है। पिता ने एक रूपात जमाते हुए कहा—मूर्ख! कुछ नहीं जानता, ‘पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है’—यह गलत बात है। सत्य यह है कि—सूर्य घूमता है, पृथ्वी स्थिर है।

अगले दिन लड़का स्कूल पहुँचा और अध्यापक ने कल का पाठ पूछा तो उसने बताया कि—सूर्य घूमता है, पृथ्वी स्थिर है। यह सुनते ही मास्टर ने एक तमाचा लगा दिया कि—मूर्ख ! छोटा-सा पाठ भी याद नहीं रहा—बोलो—पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है।

दोनों जगह तमाचे पड़ने लगे तो बालक असमंजस में पड़ गया। आखिर उसने अपना एक नया सिद्धान्त ही बना डाला।

कुछ दिनों बाद स्कूल में इन्सपैक्टर आया और परीक्षा के प्रश्नों में उस लड़के से यही प्रश्न पूछ लिया—बताओ ! पृथ्वी और सूर्य—दोनों में से कौन घूमता है ? लड़के ने उत्तर दिया—स्कूल में पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है, और घर पर सूर्य घूमता है, पृथ्वी स्थिर है।

इन्सपैक्टर हँसा, साथ में चकराया भी; यह क्या मामला है ?

लड़के ने समझाया—घर में तो यह कहने पर पिटाई होती है कि—पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है, और यह कहने पर स्कूल में मरम्मत होती है—सूर्य घूमता है, पृथ्वी स्थिर है।

आपको भी हँसी आ रही है, किन्तु बताइये कि बेचारा बालक क्या करे, वह स्कूल और घर के दो पाटों के बीच पिसा जा रहा है।

समाज और राष्ट्र के जीवन में आज यह दुहरा व्यक्तित्व बन रहा है। पिता अपने लड़कों से कहता है—कभी झूठ मत बोलो, किन्तु उन्हीं के सामने वह बड़ी लम्बी चौड़ी झूठ हाँकता है। अध्यापक सिखाता है—बीड़ी-सिगरेट मत पीओ, किन्तु यह पाठ पढाते हुए वह मुँह से सिगरेट का धुँआ निकाल रहा है।

आदर्श और व्यवहार की इस भेद-रेखा ने आज जीवन को बाँट दिया है, अलग-अलग कर दिया है, और इसलिए जीवन में उलझनें, संघर्ष और अशान्ति है। जब जीवन के इस दुहरापन को मिटाकर एकता लाएँगे, तभी जीवन में शान्ति आएगी।

नेता : एक ईश्वर

ऋग्वेद में एक पुरुष सूक्त है, भाष्यकार सायण ने तो उसे दूसरे रूप में रखा है, किन्तु हम उसे नेता का जीवन-दर्शन मानते हैं। सूक्त है—

सहस्र-शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं सर्वतः स्पृष्ट्वा स तिष्ठत् दशांगुलम् ॥

वह महापुरुष है (ईश्वर है), जिसके हजार सिर हैं, हजार नेत्र हैं, और हजार पैर हैं। वह सारे भूमण्डल को छूकर भी उससे दस अंगुल बाहर है।

नेता वही होता है, जिसके हजार सिर होते हैं, जो वह सोचे तो हजारों सिर भी वही सोचने लगें, वही हल-चल हर एक मन में खड़खड़ाने लगे, वही तार हर मस्तिष्क में झनझनाने लगे। जो विचारों का एकीकरण कर सकता है, वह सच्चा नेता है।

नेता के हजार आँखें होती हैं, वह जिस दृष्टिकोण से देखे, हजारों उसी दृष्टिकोण से देखने लगें। उसे जो दिखाई दे, हजारों को वही दिखाई दे, हजारों उसके दृष्टिकोण अपनाने लगें तो समझना चाहिए उसमें नेतृत्व बोल रहा है।

उसके हजार पैर होते हैं, जिस राह पर उसके कदम बढ़े, हजारों कदम उसके पीछे चलने को तैयार हो जाते हैं, उसका मार्ग हजारों का मार्ग होता है। जो सबको साथ लेकर चल सके उसका नेतृत्व तेजस्वी होता है।

नेता सारे भूमण्डल को छू जाता है। जो गाँव का नेता है वह सारे गाँव को छूता है। जो समाज का नेता है, वह समूचे समाज को छूता है, और जो राष्ट्र का नेता है, वह समग्र राष्ट्र को छू लेता है।

वह नेता उससे दस अंगुल बाहर—दूर रहता है, वह जिस गाँव, समाज और राष्ट्र की समृद्धि के लिए अपने को खपाता है, जीवन होमता है, वह उसके वैभव और समृद्धि से दस अंगुल दूर रहता है, उसमें लिप्त नहीं होता। दस अंगुल से यह भी अभिप्राय है—पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सुख, वैभव से दूर रहना।

आज हमें ऐसे महान् नेता की जरूरत है, जो समाज और राष्ट्र में चैतन्य भर सकता है, उसका निर्माण कर सकता है। एक महान् आदर्श की ओर उसे ले जा सकता है।

आप भला, जग भला

एक पुरानी सूक्ति चली आई है—

“यादृशी दृष्टि स्तादृशी सृष्टिः”

आँख पर यदि काला चश्मा चढ़ा है, तो टीनोपाल से धुले हुए सफेद कपड़े भी उसे काले दिखाई देंगे, हंस और बगुले की सृष्टि भी उसके सामने काली और मटमैली होगी, क्योंकि उसकी दृष्टि पर काला आवरण जो है।

दृष्टि यदि साफ है तो हर एक चीज को साफ और वास्तविक रूप में देख सकेंगे।

मुझे एक कहानी याद आ रही है—

गाँव का एक बूढ़ा नेता, गाँव के नौजवानों के साथ खेतों में बैठा कुछ चर्चा कर रहा था कि एक मुसाफिर उधर से निकला और पूछा—रे बुड्ढे ! यह गाँव कैसा है ?

बुड्ढे ने उसकी अकड़न देखी, उत्तर दिया—भई, गाँव तो जैसा होता है, वैसा ही है, ईंट-पत्थर और लकड़ी बगैरह से बना हुआ है।

मुसाफिर ने कहा—यह तो दिखाई दे रहा है, मैं पूछता हूँ—गाँव के लोग कैसे हैं ?

बुड्ढे ने जरा संजीदगी से पूछा—जिस गाँव से तुम आ रहे हो, वह गाँव कैसा है ?

मुसाफिर ने कहा—मत पूछो ! वह तो पापियों और राक्षसों का गाँव है, सब मेरे दुश्मन हैं, सब की आँखों-से आग बरसती है, मैं तो बमुश्किल जान बचाकर आया हूँ, भगवान करे इस गाँव में भूकंप आए, बिजली गिरे और सारा गाँव ध्वस्त हो जाए।

बूढ़े मुखिया ने कहा—भैया ! हमारा गाँव तो उससे भी बुरा है, जिन्दगी की खैर चाहते हो तो गाँव के बाहर से ही गुजर जाओ, गाँव में चले गए तो पता नहीं बच सकोगे भी या नहीं।

मुसाफिर गुजर गया। साथ के नौजवानों के खून में गर्मी आ गई, यह बूढ़ा तो विद्रोही जान पड़ता है। बाहर वालों के सामने गाँव की इतनी बुराई करता है,

और हमारे सामने गाँव की उन्नति की बातें ! लेकिन बाबा के सामने पूछने का साहस किसी ने नहीं किया ।

कुछ देर में एक दूसरा मुसाफिर आया, नभस्कार करके उसने भी वही बात पूछी, और बूढ़े ने भी वही उत्तर दिया ।

मुसाफिर ने कहा—मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस गाँव के रहने वाले कैसे हैं ?

बूढ़े मुखिया ने पूछा—तुम जिस गाँव से आ रहे हो वह गाँव कैसा है ?

मुसाफिर ने बताया कि वह गाँव तो स्वर्ग है, वहाँ रहने वाले सभी देवता हैं, प्रेम और सहयोग का स्रोत बह रहा है, किन्तु मैं तो भाग्य का मारा रोजी की तलाश में इधर आ गया । अच्छे दिन आए तो जल्दी ही अपने फले-फूले गाँव को लौट जाऊँगा ।

बूढ़े ने कहा—भैया ! हमारा गाँव तो उससे बहुत अच्छा है, यहाँ पर सब सुखी व प्रसन्न हैं, चलो तुम भी यहाँ रहो, तुम्हारी रोजी और रोटी का सवाल भी गाँव जरूर हल कर देगा ।

मुसाफिर चला गया । नौजवानों के मन में अब कुतूहल उठा । आखिर साहस करके पूछा—बाबा ! यह क्या मसला है ? पहले जिस गाँव को राक्षसों का गाँव बतला रहे थे, अब उसे ही स्वर्ग भूमि बतला रहे हो, हम आपकी यह बात समझे नहीं !

मुखिया ने कहा—पहला आदमी आग की चिनगारी था, जलती हुई भेड़ था, वह भेड़ जहाँ भी जाएगी सब जगह आग लगाएगी । वह जहाँ पर पीढ़ियों से रहता आया है, वहाँ पर एक भी स्नेही व मित्र नहीं बना सका, तो तुम्हारे गाँव में आकर कैसे तुम्हें मित्र बना लेगा ? जो घृणा और द्वेष का पुतला है, उसके लिए सभी जगह घृणा और द्वेष फैला मिलेगा, ऐसे आदमी को घर में, पड़ोस में या गाँव में रखना कोई पसंद करेगा ? नहीं ! इसलिए मैंने उसे यहाँ नहीं रखना चाहा ।

—तो दूसरे आदमी को रहने के लिए क्यों कहा ?

वह इन्सान है, इन्सानों के बीच रह सकता है, उसके हृदय में अपने गाँव के प्रति, पड़ोसी के प्रति प्रेम व स्नेह है, वह जहाँ भी रहेगा, प्रेम, स्नेह व सहयोग का वातावरण बना लेगा। वह आदत का मारा नहीं, परिस्थिति का मारा है। परिस्थिति अच्छी होने पर वह गाँव के लिए बहुत भला कर सकता है। ऐसे आदमियों से गाँव की शोभा है।

नौजवानों का समाधान हो गया। और मैं समझता हूँ सभी का समाधान हो गया।

यह जीवन का दर्शन है, मनुष्य आप भला होता है तो उसके लिए संसार भी भला है, उसके लिए सर्वत्र सुख और शान्ति है। यदि आपकी दृष्टि में अच्छाई है, आपके मन में प्रेम है, तो जगत में आपके लिए सर्वत्र अच्छाइयाँ हैं, प्रेम है।

दो अक्ल की कमी

तीन प्रकार के मनुष्य बताए गए हैं, एक वे जो स्वतः ही साधना की ओर प्रवृत्त हो जाए। जीवन में जब जिस प्रकार का अवसर आए उसी के अनुरूप दान, शील आदि सत्प्रवृत्तियों का आचरण करने लग जाएँ। जल-स्रोत की भाँति स्वतः प्रवहमान रहे। वह प्रथम कोटि का साधक है।

मध्यम श्रेणी का पुरुष दूसरे से प्रेरणा पाकर दान, शील, तप और त्याग का आचरण करता है। झरना स्वतः प्रवाहित होता है, किन्तु कुएँ को खोदना पड़ता है। जमीन में कुछ गहरा खोदने पर जल का स्रोत निकल आता है। पहले प्रवृत्त होते हैं, दूसरे प्रेरित होते हैं।

तीसरी कोटि का पुरुष न प्रवृत्त होता है, न प्रेरित ! वे अन्धे हाथी की तरह क्रोध, मान, माया, लोभ एवं वासना के अन्धकार में इधर-उधर भटकते रहते हैं, न उनमें अपनी बुद्धि होती है, और न वे दूसरे की बुद्धि का उपयोग ही करते हैं। एक राजा ने अपने मन्त्रियों को आदेश दिया कि मेरी कन्या के लिए ऐसा वर ढूँढ़ो जिसमें सौ तरह की अक्ल हो। मन्त्री तलाश करने लगे। बड़े-बड़े राजकुमारों से भेंट की, किन्तु एक साथ सौ तरह की अक्ल किसी भी राजकुमार में नहीं मिली। सब निराश होकर लौट आए। एक वृद्धि मन्त्री आया और उसने कहा महाराज ! सौ अक्ल तो किसी भी राजकुमार में नहीं मिली परन्तु मैंने एक

राजकुमार को देखा है जिसमें ९८ अक्ल हैं। राजा ने प्रसन्न होकर कहा, खैर दो ही तो कम हैं, कोई बात नहीं काम चल सकता है। किन्तु दो अक्ल कौन-सी नहीं हैं? मन्त्री ने कहा—उस राजकुमार में एक तो अपनी अक्ल नहीं है, दूसरी, दूसरे की अक्ल मानता नहीं है। इन दो बातों को कमी है, बाकी सब ठीक है। राजा ने सिर पीट कर कहा—जिस मनुष्य में इन दो अक्ल की कमी है, वह मनुष्य किस काम का?

हाँ तो जिस पुरुष में स्वतः सन्मार्ग पर चलने की बुद्ध नहीं, और न दूसरे की प्रेरणा से चलता ही हो वह मनुष्य किसी काम का नहीं। वह जीवन को सफल नहीं बना सकता।

साधना के तीन रूप

साधना—दूध, पानी, जहर

भारत के मनीषियों ने साधना के तीन रूप बताए हैं—जो साधक साधना करता है, परन्तु उसका प्रदर्शन नहीं करता, उसकी यह साधना 'दूध' है। यदि उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह साधना को अन्दर हजम कर जाए, वह साथियों व मित्रों के सामने उसे प्रकट करता है वह साधना 'दूध' से 'पानी' बन जाती है, उसमें दूध जितनी शक्ति तो नहीं रही, किन्तु फिर भी पानी सूखे गले को तो तर कर सकेगा। परन्तु जब साधक साधना से पहले ही ढोल पीटना शुरू कर देता है। जब साधना चलती है तो उसका प्रदर्शन और विज्ञापन करना शुरू कर देता है, तो उसकी वह साधना न 'दूध' रही और न 'पानी', वह तो जहर बन गई। नवनीत था तो अमृत, परन्तु जब उसे काँसे के बर्तन में अधिक मथा तो वह 'जहर' बन गया।

वस्तु और भावना

बाकुले : बेर : छिलके :

भारतीय विचार में वस्तु का महत्व नहीं है, भावना का महत्व है। प्रेम और निष्ठापूर्वक किया गया थोड़ा-सा कार्य उस विशाल कार्य से श्रेष्ठ है जिसमें सिर्फ आडंबर और प्रदर्शन किया जाता है। हमारा काँटा हमेशा ही हृदय की ओर झुकता है, दिखावे की ओर नहीं।

भगवान महावीर ने अनेक पारणे किए, बड़े-बड़े सेठ-साहूकार और सम्राटों के महलों और राजभवनों में उन्हें बहुत ही अच्छे भोजन मिले होंगे, किन्तु उन खीर और मिष्ठानों की आज कहीं चर्चा नहीं है, किन्तु चन्दना के बाकुले आज भी याद किए जाते हैं, हर गाँव और हर घर में उसकी कहानियाँ सुनी जाती हैं। उसमें जो पवित्र भावना, श्रद्धा-भक्ति का चमत्कार था, वही उस चन्दन बाला के बाकुलों को अजर-अमर बना गया।

रामायण के पृष्ठ उलटिए राम के विशाल ऐश्वर्य का वर्णन मिलेगा। किन्तु जब भोजन की चर्चा आई तो भीलनी के झूठे बेरों को ही महत्व मिला। राम ने अनेक सम्राटों के राजभवनों में श्रेष्ठ पकवान खाए होंगे। किन्तु इतिहास ने उन्हें भुला दिया, और भीलनी के झूठे बेर भक्तों, कवियों और लेखकों की कलम की नोक पर चढ़कर मधुर बन गए, अजर-अमर हो गए।

महाभारत को जरा देखिए, कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के मेवा-मिष्ठान को ठुकरा दिया और विदुरजी की कुटिया में जाकर केले के छिलके खाए। उन छिलकों में जो मिठास था वह दुर्योधन के पकवानों में कहाँ ! प्रेम, स्नेह एवं आदर की जो मधुरिमा वहाँ मिली, वही आज विदुर के छिलकों को अमर बना गई।

भगवान महावीर के अनेक पारणों में से चन्दना के बाकुले का पारणा आज भी ज्योतिर्मय है। राम के अन्य भोजनों पर इतिहास मौन है, किन्तु भीलनी के झूठे बेर आज भी रामायण में चमक रहे हैं श्रीकृष्ण ने सम्राटों के राजभवनों में अनेक भोजन किए होंगे, किन्तु विदुर की शाक-भाजी ही आज भक्तों की जवान पर चढ़ी है—

“दुर्योधन की मेवा त्यागी, शाक विदुर घर खायो।”

भारतीय संस्कृति के इन तीनों उदारहणों में एक ही बात दुहराई गई है और वह है—वस्तु की जगह भावना का महत्व। प्रेम और श्रद्धा की अमर विजय !

पर्व का अर्थ

हम लोग पर्व मनाते हैं, और बहुत ज्यादा मनाते हैं। यों पर्व-त्यौहार जिन्दगी में जिन्दादिली और उल्लास के प्रतीक होते हैं, किन्तु उनके पीछे रहा हुआ अभिप्राय भी हमें समझना चाहिए।

‘पर्व’ शब्द का अर्थ होता है, ‘पौरी’। बाँस में दो गाँठों के मध्य में जो भाग होता है, उसे पौरी कहते हैं। यों पर्व के कई अर्थ होते हैं।

एक बार कालिदास को समस्या दी गई कि—

भारतं चेशु दण्डं—सिन्धु मिन्दुच वर्णय

महाभारत, ईक्षु-दण्ड, सागर और चन्द्रमा—इन चारों का एक ही श्लोक में वर्णन करो। कालिदास ने तत्काल उत्तर दिया—

पद मेकेन वक्ष्यामि प्रति पर्व रसोदयम्।

एक श्लोक की क्या जरूरत है, सिर्फ एक पद में ही कह देता हूँ—

—‘प्रति पर्व रसोदयम्’—

महाभारत को पढ़ते जाइए, ज्यों-ज्यों ‘पर्व’ पढ़ेंगे, रस की वृद्धि (आनन्द) होती जाएगी। गन्ने को ज्यों-ज्यों काटिए, हर ‘पौरी’ पर रस का आस्वाद मिलेगा। सागर में भी हर पर्व (पड़वा) पर जल की वृद्धि होती है और चन्द्रमा की कला भी प्रत्येक पड़वा के बाद बढ़ती है।

तो इस प्रकार पर्व के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु सब में जो मूल बात रही है—‘प्रति पर्व रसोदयम्।’

यह पर्व के ऊर्ध्वगामी विकास को ध्वनित करती है। हर पर्व नए विकास का द्वार खोलता है।

पर्व मनाने का अभिप्राय है—जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाना। प्रत्येक पर्व विकास और उल्लास का द्वार खोलता जाए—तभी जीवन में पर्वों की सार्थकता है।

श्रेष्ठता का मानदण्ड

भगवान् महावीर से एक बार पूछा गया—गृहस्थ जीवन श्रेष्ठ है या साधु जीवन? भगवान् ने कहा—यह जीवन का क्षेत्र है, इसकी नाप-तोल वेश-भूषा पर नहीं, जीवन की परणति पर आधारित है।

किसी-किसी सद् गृहस्थ का जीवन सन्त जीवन से भी श्रेष्ठ और पवित्र हो सकता है।

“सन्ति एगेहि भिक्खुहि गारत्था संजमुत्तरा।”

पवित्रता का मानदण्ड उसका वेश नहीं है, किन्तु उसके जीवन की भूमिका है। उसमें त्याग, सच्चाई और निष्ठा का चमत्कार है या नहीं? यदि साधु का वेश पहन लेने के बाद भी उसमें निष्ठा, त्याग और वैराग्य का अभाव है तो वह साधु का वेश सिर्फ आत्मप्रवंचना है। लाखों-करोड़ों ऐसे वेश पहनने वाले नरक में चले गए। और गृहस्थ के जीवन में भी यदि त्याग, सदाचार और सत्यनिष्ठा है तो वह बिना वेश के भी साधु है, वह वन में रहे या भवन में, मुक्त हो सकता है। जैसे भरत शीशमहल में बैठे-बैठे ही केवलज्ञानी बन गए।

जैन धर्म ने श्रेष्ठता का मानदण्ड, अन्तर-आत्मा की पवित्रता को माना है, वेश और पद को नहीं।

परिग्रह क्या ?

भगवान महावीर से पूछा गया—परिग्रह क्या है? उन्होंने यही कहा कि—पुत्र परिवार, धन-सम्पत्ति आदि परिग्रह हैं या जमीन, हाथी-घोड़े परिग्रह हैं, चूँकि निश्चय नय की दृष्टि से यह सब तो जड़ या चेतन स्वतन्त्र वस्तु हैं, परिग्रह का जो जहर है, वह तो अपने अन्दर में है और वह है—ममत्व ! इसीलिए उन्होंने बताया—

मुच्छा परिग्रहो वुत्तो

अर्थात्—मूर्च्छा परिग्रह है, आसक्ति परिग्रह है।

एक चिऊँटी जिसके पास सिर्फ नन्हा-सा शरीर है, न घर है, न परिवार है, न वस्त्र है, न खाने का संग्रह है, यदि वस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो वह बहुत बड़ी अपरिग्रही है। और एक चक्रवर्ती जिसके पास विशाल साम्राज्य है, हजारों रानियाँ हैं, अनेक भण्डार भरे हुए हैं, वह बहुत बड़ा परिग्रही है। किन्तु मैं कह चुका हूँ जैन-धर्म वस्तुवादी है ही नहीं, वह भावनावादी है। चिऊँटी भी अपनी दैहिक ममता में उसी प्रकार फँसी है, जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने साम्राज्य में, इस दृष्टि से दोनों ही परिग्रही हैं, मूर्च्छा या ममता भाव दोनों में ही विद्यमान है।

सर्वस्व लुटाकर भी, साधु बनकर भी यदि कोई ममत्व का त्याग नहीं करता है, तो वह अपरिग्रही नहीं हो सकता। जब 'मेरापन' की भावना का विसर्जन किया जाएगा, वस्तु की आसक्ति मिटाई जाएगी तभी परिग्रह का त्याग हो सकेगा।

विवाह और ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य की चर्चा में बहुत बार यह प्रश्न उठा है कि विवाह और ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में आपके विचार क्या हैं ? यूँ तो मैं अपरिग्रहवादी ठहरा, विचार भी तो 'मेरे' नहीं हैं, विचारों का परिग्रह भी नहीं रखना चाहिए, किन्तु फिर भी शास्त्रों के चिंतन-मनन के आधार पर कुछ समझ सकता हूँ तो वह यह कहने की इजाजत देता है कि यदि विवाह को ईमानदारी और जवाबदारी के साथ स्वीकार किया गया है, तो वह भी ब्रह्मचर्य की साधना का एक रूप है ।

'विवाह' शब्द का अर्थ है—विशेष रूप से वहन करना । एक-दूसरे के उत्तरदायित्व को जिम्मेदारी की भावना से वहन करना—विवाह की शर्त है । जीवन में जो संघर्ष, कष्ट और झंझावात आदि हैं उनमें एक-दूसरे का सहयोग करके कर्तव्य पथ पर बढ़ते चलना—विवाह का एकरूप है ।

विवाह विधि में एक मंत्रोच्चार किया जाता है—

समानीव आकूतिः समापनो हृदयानिवः

हमारे विचार समान हों, हमारे हृदय जल की तरह एक रस हों—इस प्रतिज्ञा को जीवन भर निभाना, प्रेम और सहयोग के आधार पर जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाना—विवाह का उद्देश्य होता है ।

मैं कहना चाहूँगा ऐसा वैवाहिक जीवन 'चतुर्भुज' (परमेश्वर) का जीवन है, उसमें जहर तो एक बूँद के बराबर है, और त्याग की मात्रा समुद्र के बराबर है ।

जहाँ विवाह जैसी कोई चीज नहीं, वहाँ वासना की लहर समुद्र की तरह लहराती है । किन्तु मनुष्य विवाह करके उस लहराते हुए सागर को प्याले में बन्द कर देता है ।

इस दृष्टि से मैं विवाह को ब्रह्मचर्य की ओर जाने वाली अनेक पगडंडियों में से एक बड़ी पगडंडी मानता हूँ ।

कब खाएँ ! कैसे खाएँ ?

एक बार पूछा गया कि घर में जब भोजन बने तो पहले किसका नम्बर आना चाहिए ? कौन पहले खाए ? भारतीय संस्कृति में इस सम्बन्ध में जो विचार दिए

हैं—वे ये हैं कि पहले वे बाल-गोपाल भोजन करने के अधिकारी हैं, जो छोटी-छोटी इकनियों, दुअनियों के रूप में घर में घूम रही हैं, और जिन्हें एक दिन रुपया बनना है। वह चाहे मुन्ना हो या मुन्नी, उस परिवार और घर में दोनों का बराबर अधिकार है। इसके बाद दूसरा नम्बर आता है बड़े-बुढ़ों का जो घर में दादा-दादी, माता-पिता के रूप में बैठे हैं, या कोई घर में बीमार बैठा हो तो उसका नम्बर आता है।

इसके बाद घर के उन भाई और बहनों, स्त्री और पुरुषों का नम्बर आता है, जो पूर्ण स्वस्थ हैं, घर के सदस्य हैं, और जो कमाते भी हैं, परिश्रम भी करते हैं, और किसी भी प्रकार से घर की अभिवृद्धि या उन्नति एवं अवनति के हिस्सेदार हैं।

सबसे पीछे नम्बर आता है, घर की उस मालकिन का जो घर का संचालन करती है, परिवार की व्यवस्था रखती है कि इस मन्दिर में कोई देवता बिना भोग लगे तो नहीं रहा है। पुराने जमाने में यह मान्यता थी कि यदि घर में कोई भूखा सोता है तो उसका पाप घर के मालिक को लगता है।

भारत की संस्कृति में हमेशा से यही बात सिखाई जाती रही है कि बाँटकर खाओ, खिलाकर खाओ।

कर्मयोगी श्री कृष्ण ने कहा—

अद्यं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्म कारणात्

“जो केवल अपने लिए ही पकाता, दूसरों को उसमें से प्रेम पूर्वक हिस्सा नहीं देता—वह रोटी नहीं खाता बल्कि पाप खाता है। वह पेट में भोजन नहीं डालता बल्कि पाप उड़ेलता है।”

भगवान् महावीर ने बार-बार उद्घोष किया—

छंदिय साहम्मियाण भुजे

असंविभागी नहु तस्स मुक्खो

“साथियों में बाँटकर खाओ। बिना बाँटकर अकेला खाने वाला मोक्ष नहीं जा सकता।”

भारतीय संस्कृति का यह नाद हमारे भोजन के एक पहलू पर अच्छा प्रकाश डालता है। घर, परिवार और समाज की परम्परा में प्रेम और सौहार्द की एक धारा भोजन के माध्यम से सदा बहती रही है, और वह यही है कि दूसरों को निमन्त्रित करके खाए, खिलाकर खाए और बाँटकर खाए।

मन के भिखारी

एक भिखारी जो जीवन भर फूटे ठीकरे में भीख माँगता रहा, सौभाग्यवश एक दिन राजा बना दिया गया। जब वह राजसी ठाट-बाट में सोने के सिंहासन पर बैठा तो मन्त्री उसके सन्मुख उपस्थित हुआ, और कोई आज्ञा माँगने लगा। भिखारी का मन कांप गया और बोल भी न सका। कुछ क्षण सेनापति अपने सैनिक लिहाजे से आकर नमस्कार करके आदेश की प्रतीक्षा करने लगा, वह तो अपनी पूर्व स्थिति याद करके रोनी सी सूरत बना कर बैठा रहा। जब वह मन्त्री और सेनापति से कुछ भी बात न कर सका और हीन भावनाओं के कारण बिल्कुल मायूस बना बैठा रहा तो अन्य दरबारी लोग उसे मूर्ख समझकर हँसी-मजाक करने लगे। भिखारी उनकी हँसी देखकर सोने के सिंहासन पर बैठा हुआ भी मन ही मन रोने लग गया कि सब सेवक उसकी मजाक उड़ा रहे हैं।

भिखारी की इस बात पर आपको हँसी आती होगी, किन्तु यही स्थिति आज हम सबकी हो रही है। हम लोग मानव जन्म रूपी राजगद्दी पर आकर बैठ तो गए हैं, लेकिन उस राज्य का आनन्द और उल्लास, गौरव और सामर्थ्य हमने नहीं जाना है, हम अपने मन रूप मन्त्री को आदेश देने में असमर्थ पाते हैं, इन्द्रियाँ रूप सेनापति और कर्मचारियों के सामने अपने आपको हीन समझते हैं, और इस प्रकार मन और इन्द्रियाँ जो वास्तव में हमारे दास हैं, हम उनसे डरते हैं, उनके प्रभाव में बह रहे हैं और उन्हें अपने आदेश पर नहीं चला रहे हैं।

मन का यह भिखारीपन जब तक नहीं मिटेगा, हम राजा बनकर भी राजा होने का आनन्द नहीं उठा सकेंगे, और यों ही रोते-बिलखते रहेंगे।

धर्म का प्रवेश-द्वार

अगर संसार में कोई ऐसा धर्म है, जो व्यक्ति के किसी भी प्रकार के अहं को स्वीकार करता हो और उसे प्रश्रय देता हो तो उस धर्म के सम्बन्ध में मेरा विनम्र मत है कि वह धर्म, धर्म की मर्यादा में आने योग्य नहीं है। 'अहं' का विलय करने से ही धर्म के द्वार पर प्रवेश पाया जा सकता है। जाति, धन, सत्ता आदि का 'अहं' धर्म की चौखट पर पैर भी नहीं रख सकता। इस सम्बन्ध में जैन धर्म ने एक महत्वपूर्ण सन्देश दिया है—

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो
न दीसइ जाई विसेस कोई।

विश्व में तपस्या और साधना का मूल्य आँका जाता है, जाति का कुछ भी मूल्य नहीं है। जैन धर्म के द्वार पर यह नहीं पूछा जाता कि तुम सिंहासन पर बैठने वाले हो, या सड़क पर झाड़ू देने वाले। उसके द्वार पर बड़े-बड़े राजकुमार भी आए, तो हरिकेशी जैसे अंत्यज भी। उसके तपोवन में इन्द्रभूति गौतम जैसे अग्निहोत्री आए तो अर्जुन माली जैसे शूद्र जाति के साधक भी; और सभी ने साधना की लौ लगाई। उसके द्वार में प्रवेश पाने वाले से सिर्फ एक ही प्रश्न पूछा जाता है—भद्र ! क्या तुम अपने जीवन का निर्माण करना चाहते हो ? अपने अन्तर में दबी पड़ी अनन्त शक्तियों को चमकाना चाहते हो ? यदि हाँ, तो तुम्हारे लिए जैन धर्म-साधना का मन्दिर खुला है, तुम्हें कोई भी शक्ति निषेध नहीं कर सकती !

जैन धर्म के एक आचार्य ने इस सम्बन्ध में एक बड़ी ही भावपूर्ण बात कही है—

अन्नो देश जाया, अन्नेनागार बुद्धिबयसरीरा ।
जे जिण-धम्म पव्वन्ना सव्वे ते बन्धवा भणिया ॥

चाहे किसी भी देश में जन्मा हो, किसी भी धरती की गोद में खेला हो—जो जैन धर्म की साधना में प्रव्रजित हो गया—वह सब भाई है, सब समान है।

मैं मानता हूँ कि व्यक्तिगत 'अहं' के विलय का यह महत्वपूर्ण सन्देश जैन धर्म का ही नहीं, किन्तु धर्म मात्र का सन्देश है ।

तपस्या का उद्देश्य

'तपस्या के लिए तपस्या' और 'तप के लिए तप' यह जैन धर्म की धारणा नहीं है । जैन साधना का विवेक इसमें है कि तपस्या—एक साधन है और उसका प्रयोग विकारों को शान्त करने के लिए किया जाता है । अगर तपस्या से अभिमान, क्रोध और लोभ को शान्त नहीं किया जा रहा है तो उस व्यर्थ के देह-दण्ड से क्या लाभ ? तपस्या से यदि क्रोध की अग्नि और अधिक भड़कती है, अभिमान की मात्रा तेज होती है, वासना का वेग प्रबल होता है तो उस स्थिति में जैन दर्शन तपस्या की अपेक्षा पारने को अधिक महत्व देता है । भगवान महावीर ने छह मास की तपस्या की, और जब पारने की आवश्यकता हुई तो वह भी किया । जैन धर्म तपस्या और पारना (खाना) के पीछे गुमराह होने वाले साधकों को प्रकाश दिखाता है कि—साधना के क्षेत्र में आए हो तो विवेक को जगाओ ! मन के विकारों को दूर करने के लिए जब जिस क्रिया की आवश्यकता हो वही क्रिया करो । इसी लिए जैन धर्म ने तपस्या को सिर्फ 'निराहार' न मानकर उसको बारह प्रकारों में विभक्त कर दिया है । जब जिसकी आवश्यकता हो, उसी का अनुष्ठान करो ।

विकारों का सर्प

जैन आचार्यों ने शरीर के साथ शत्रुता बर्तने की बात कभी नहीं कही है । वहाँ तो केवल विकारों के साथ लड़ने की बात कही गई है । मैं मानता हूँ कभी-कभी साधनों के बीच यह शरीर धोखा दे जाता है । यह शरीर तो सिर्फ सर्प के बिल के समान है, जिसकी गहराई में विकारों का सर्प शरण लेता है । साँप को मारने के लिए बाँबी बिल पर सोंटे बरसाने से कोई फायदा नहीं है । यह शरीर तो अनेक बार काटा गया है । जलाया गया है, और मिट्टी बना है । मगर जब तक

विकारों का सर्प मरा नहीं, वह एक बिल को बदल कर दूसरे बिल में घुस गया । तब तक निर्भय नहीं हो सकते । जैन साधना का लक्ष्य यही है कि उस सर्प को मारो । तुम्हें सर्प से खतरा है बिल से नहीं ।

सच्चा सो मेरा

मैं आपसे फिर कहता हूँ कि आप किसी भी पंथ में रहें, किसी भी गुरु की माला फेरें और किसी भी सम्प्रदाय के नियमों का पालन करें, किन्तु आप इन पन्थों और सम्प्रदायों की दम घोटने वाली दीवारों से अपनी गर्दन को जरा ऊपर उठाकर बाहर के स्वच्छ और उन्मुक्त वातावरण में भी साँस लें ।

यदि आपको अखण्ड सत्य का दर्शन करना है तो सम्प्रदाय और पंथ की उलझन से दिमाग को साफ करिए । दृष्टि पर आग्रह का जो चश्मा चढ़ा है उसे उतार कर आँख को साफ कीजिए । जरा सोचिए—जब सत्य को हिमालय से भी ऊँचा, और महासमुद्र से भी अधिक गहरा बताया गया है—

“गम्भीरतरं महासमुद्राओ”

—प्रश्न व्याकरण

तो ऐसा सत्य पंथों और सम्प्रदायों की क्षुद्र दीवारों में किस प्रकार बन्द हो सकता है ।

भगवान् बुद्ध ने एक बार वृक्ष के सूखे पत्ते मुट्ठी में भरकर आनन्द से पूछा—आनन्द ! क्या इस वृक्ष के पत्ते इतने ही हैं ?

आनन्द नहीं भन्ते ! और भी हैं ।

बुद्ध ने फिर मुट्ठी भरी और फिर पूछा तो आनन्द ने वही उत्तर दिया—भन्ते ! और भी हैं ।

बुद्ध ने कहा—आनन्द ! तुम ठीक समझे हो । इसी प्रकार समझो कि सत्य जितना मैंने बतलाया है, उतना ही नहीं है । इसके अतिरिक्त और भी है, और वह अनन्त है ।

हाँ, तो वह अनन्त सत्य ग्रन्थ और पंथ की घेरेबन्दी में कैसे समा सकता है ?
सत्य के जिज्ञासु का नारा—

“यन्मम तत् सत्यम्”

(जो मेरा है, मेरे गुरु का है वही सत्य है)—यह कभी नहीं होता । सत्य की
उपासना का स्वर तो यही होना चाहिए ।

“यद् सत्यं तन्मम”

(जो सत्य है, वही मेरा है) यही निर्मल दृष्टि हमें सत्य का सम्पूर्ण दर्शन करा
सकती है ।

एक को जाने सब जाने

जैन दर्शन ने एक बात कही है—

“जे एंग जाणइ, से सव्वं जाणइ”

जिसने एक को जाना उसने सबको जाना, जिसने एक का दर्शन कर लिया उसने
समूचे विश्व का दर्शन कर लिया । इस सम्बन्ध में वैदिक परम्परा के एक ऋषि
ने बहुत ही गम्भीर प्रश्न किया है—

“कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?”

‘किस एक को जानने पर यह सब जाना जा सकता है ?’

इस प्रश्न का समाधान भी वहीं दे दिया गया है—

“आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति”

‘एक आत्मा को जान लेने पर यह सब जाना जा सकता है ।’ आत्मा वह परम
गुह्य तत्व है जिसको उपनिषद् ने—

अदृष्टो दृष्टा

—श्रु. उपनिषद् ३/७/१३

(अदृश्य रहकर देखने वाला) कहा है ।

जैन दर्शन की भाषा में वह—

“नो इन्द्रिय गेज्जा अमुत्त भाव ।”

इन्द्रियों से नहीं दिखाई देने वाली अमृत शक्ति है। उसी को जानना सबसे प्रमुख महत्व की बात है। यदि इसको जान लिया तो सबको जान लिया।

आपको ग्रहण लगा है

प्राण क्या है? यह एक लम्बा प्रश्न है। मगर लाखों-करोड़ों भाव परायण लोग सूर्य और चन्द्र को राहु के चंगुल से मुक्त कराने के लिए हजारों वर्षों से माला फेरते रहे हैं, दान करते रहे हैं। कभी-कभी मेरे मन में प्रश्न उठता है कि करोड़ों मील की दूरी पर स्थित सूर्य और चन्द्र की मुक्ति के लिए जब मनुष्य यहाँ पृथ्वीतल पर बैठकर दया की भावना अपने मन में जगाता है और सूर्य-चन्द्र की मुक्ति के लिए माला फेरता है तो वही मनुष्य अपनी इस आत्मा को जो सूर्य और चन्द्र से भी अधिक महान् है, जिसका समुज्ज्वल प्रकाश करोड़ों सूर्य चन्द्र से भी अधिक है और जो उसके सबसे अधिक निकट में है—मुक्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करता?

सम्भव है आपने कभी सोचा ही नहीं होगा कि इस आत्मा को भी ग्रहण लगा है क्या? तो आज से समझ लीजिए। इसकी मुक्ति के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न प्रारम्भ कर दीजिए।

जैन दर्शन ने बताया है—आत्मा को कर्म का राहु लगा है। वेदान्त कहता है—आत्मा को माया का राहु लगा है और बुद्ध ने कहा है कि आत्मा को वासना का राहु लगा है। सबका मतलब एक ही है कि आत्मा को ‘राहु’ लगा है और उसकी मुक्ति के लिए भी आपको प्रयत्न करना है। आत्मा पर जो कषाय, विकार है, अज्ञान और मोह है वही तो ‘राहु’ है जिसने उसके अनन्त प्रकाश और अमित शक्ति को छिपा रखा है। उसी राहु से आत्मा को मुक्त करना है।

पेट मालगोदाम नहीं है

एक विचारक ने कहा है—कुछ लोगों को भोजन खा जाता है, और कुछ लोग भोजन को खाते हैं।

मुझे इस पर एक उदाहरण याद आता है—एक सज्जन को निमन्त्रण मिला कि अमुक दिन हमारे घर पर खाना खाने आना, वे सज्जन दो दिन पहले ही उसकी तैयारी में उपवास करने लगे। अब समय पर खाने को गए तो इतना डटकर खाया कि उठना भी मुश्किल हो गया, पेट को मालगोदाम की तरह खूब डटकर भर लिया। बड़ी मुश्किल से घर पहुँचे तो बाहर से ही पुत्रवधू को आवाज लगाई—अरी ! खटिया डाल दो, अब खड़ा नहीं रहा जाता। पुत्रवधू ने खटिया डालते हुए कहा—यह कोई खाना थोड़ा ही है, इसमें क्या शेखी है ? खाना तो मेरे पिताजी खाते थे, सो जहाँ खाना खाते वहीँ पर जम जाते, खटिया में डाल कर उन्हें घर पर लाते।

हाँ, तो साहब ऐसा भोजन मनुष्यों को खाता है, भोजन से उनका माँस जरूर बढ़ता है, किन्तु आयु और बल नहीं बढ़ता, उलटा भोजन उनको खाता है।

महात्मा बुद्ध ने कहा है—

“अधिक भोजन करने वाले बैल के समान होते हैं, भोजन से उनका माँस जरूर बढ़ता है किन्तु बुद्धि नहीं बढ़ती।”

भोजन करना हो तो मनुष्य के ढंग से करना चाहिए, स्वाद में बर्बाद नहीं होना चाहिए। भोजन का उद्देश्य है—आयु, बल, तेज और बुद्धि को कायम रखना और बढ़ाना। वह भोजन जब सिर्फ पेट को मालगोदाम की तरह भरना ही हो जाता है, तब वह आदमी को खाता है, अनेक बीमारियों को जन्म देता है, स्वास्थ्य, आयुष्य और ओज का नाश करने वाला होता है।

इसीलिए मनुस्मृति में कहा है—

“अनारोग्य मनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनात्”

“अति भोजन से आयुष्य, आरोग्य, और स्वर्ग भी हाथ से निकल जाता है।”
इसलिए भोजन को खाने का ढंग सीखना चाहिए। भगवान महावीर ने बार-बार कहा है—

अप्यभासी मियासणे,
अप्यपिण्डासी पाणासी।
“कम बोले, कम खाए,
कम खाना, कम पीना।”

यह सब उपदेश स्वास्थ्य और आरोग्य की ही दृष्टि से नहीं बल्कि अध्यात्म की दृष्टि से भी आवश्यक है ।

अहिंसा और मानवता

मैं अहिंसा को मानवता कहता हूँ और मानवता को अहिंसा । आप अगर जीवन के क्षेत्र में ठीक ढंग से विचार करें तो मैं कहूँगा कि मनुष्य की जो शुद्ध मानवता है वह कोमलता की भित्ति पर ही टिकी हुई है, और कोमलता मनुष्य के आधार पर खड़ी है । हम इन दोनों को अलग-अलग करके नहीं चल सकते । जब कभी इस देश में यह विचार जीवन में मिश्रित हो जाएगा, तब मानवता के कल्याण के लिए हमें उपदेश करना नहीं पड़ेगा । शान्ति, समृद्धि और प्रेम की आकांक्षाएँ स्वतः सफल होंगी, उस दिन मानवता मुस्करा उठेगी ।

जीवन की त्रिपुटी

नयी पीढ़ी के पहरेदारों और नये जमाने के सूत्रधारों को यह बात समझ लेनी चाहिए कि उन्हें जीवन में देवत्रयी का रूप बनना पड़ेगा । समाज, राष्ट्र और धर्म की जो सड़ी-गली, जीर्ण-शीर्ण मान्यताएँ हैं, निष्ठाण परम्पराएँ हैं, उन्हें उखाड़ फेंकना होगा, उनके विध्वंस के लिए महादेव (रुद्र) का रूप धारण करना पड़ेगा । और जो इसके साथ नया सर्जन, नया निर्माण होने वाला है, उसके लिए उन्हें ब्रह्मा बनकर खड़ा होना होगा । इसी के साथ जो जीवन, परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म के लिए हितकर हैं, जिसमें प्राण हैं, तेजस्विता है, उस तत्त्व की रक्षा के लिए विष्णु का विराट् रूप धारण करना होगा । ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में जीवन की यह देवत्रयी है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की परम्परा में युवक शक्ति को अपने जीवन को ढालना होगा । निर्माण, संरक्षण और विनाश की यह त्रिपुटी जीवन को नयी शक्ति और तेजस्विता देगी, आने वाली पीढ़ी इसके लिए अपने आपको तैयार कर लें ।

सुधार और उद्धार

सुधार और उद्धार में एक अन्तर है, संशोधन और निर्माण में भेद है । क्रान्ति और विकास में फर्क है । कुछ लोग सुधार चाहते हैं और कुछ लोग उद्धार, कुछ

संशोधन चाहते हैं और कुछ निर्माण, कुछ क्रान्ति चाहते हैं और कुछ विकास । जीवन में दोनों ही आवश्यक हैं, किन्तु दोनों की ही कुछ सीमाएँ हैं, जिन्हें समझ लेना जरूरी है ।

एक कपड़ा है, उसका एक किनारा फट गया तो उसे जोड़ लेते हैं, वह मैला हो गया तो उसे धो लेते हैं, इस तरह उसका सुधार कर लिया, किन्तु वह फटते-फटते इतना फट गया कि अब कपड़ा नहीं रहकर चीथड़ा बन गया तो फिर उसको फैंककर नया कपड़ा ही लेना पड़ेगा, धोते-धोते वह इतना गल गया कि अब धोते-निचोड़ते ही चर्-चर् करता है तो उसको छोड़ना ही होगा । यदि उस फटे-पुराने चिथड़े को ही आप गले में डालकर फिरेंगे तो दुनिया आपको बुद्धिमान नहीं कहेगी, मूर्ख और दरिद्र बताएगी ।

एक पुराना मकान है, कहीं से टूट-फूट हुई तो सीमेंट लगा दिया, ईंट-पत्थर लगाकर ठीक कर दिया । कुछ समय तक तो आप सुधार करते रहें, लेकिन जब मकान इस हालत में पहुँच गया कि वह किसी भी दिन गिरकर खण्डहर बन सकता है, और दस-बीस प्राणियों की जिन्दगी ले सकता है तो आपकी समझदारी उसी में होती है कि उसे गिराकर नया मकान बनवा लिया जाए ।

जब नया कपड़ा खरीदना पड़ता है, नया निर्माण करना पड़ता है तब नया वातावरण, नयी परिस्थितियाँ और नयी रूपरेखा सामने आती है, उसे हम उद्धार कहते हैं ।

यही बात परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म की है, जब तक सुधार सम्भव हुआ—करते रहे, लेकिन जब स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि इस व्यवस्था और परम्परा के महल को खण्डहर होने से बचाने के लिए उसे गिराकर नया महल खड़ा करने में ही बुद्धिमानी है, तब हम उसे उद्धार, निर्माण और क्रान्ति कहते हैं । सुधार और उद्धार की इन सीमाओं को समझने में हमने विवेक से काम नहीं लिया तो सम्भव है, आने वाले जमाने के साथ हमें टकराना पड़ेगा ।

जीवनी-शक्ति

मनुष्य औषधि आदि प्रयोगों द्वारा अपना शरीर-बल चाहे जितना बढ़ाले, किन्तु जब उसमें मनोबल नहीं होता, प्राण-शक्ति नहीं होती, ओजस् नहीं होता,

तो वह शरीर बल सिर्फ भार बढ़ाने वाला ही होता है, तेजस् और वर्चस्व नहीं बढ़ाता ।

गणधर गौतम भ. महावीर से एक प्रश्न पूछते हैं—भगवन् ! दो मनुष्य बराबर बलवान दीखते हैं, हट्टे-कट्टे लगते हैं, उनकी माँस-पेशियाँ मजबूत हैं, हड्डियाँ सुदृढ़ दिखाई पड़ती हैं, किन्तु जब परस्पर लड़ते हैं तो एक हार जाता है और एक जीत जाता है, कभी-कभी कमजोर और दुर्बल दिखाई देने वाला मोटे-ताजे सुदृढ़ शरीर वाले को पछाड़ देता है, इसका क्या कारण है ?

गौतम का यह प्रश्न भगवती सूत्र में आया है । भगवान महावीर उत्तर देते हैं—गौतम ! तुम माँस-पिण्ड और हड्डियों के ढाँचे को देखकर ऐसा सोचते हो, किन्तु जिसके अन्दर वीर्यशक्ति, उत्साह और ओज होता है, प्राण बलवान होते हैं, वही विजयी होता है—

“सवीरिए परायणइ, अवीरिए पराजयइ ।”

वीर्यशक्ति वाला जीतता है, और निर्वीर्य हार जाता है चूँकि मनुष्य की शक्ति का मूल स्रोत यही है । उसे ही जीवनी-शक्ति माना है । इसीलिए वीर्य की रक्षा को जीवन और प्राण रक्षा माना है ।

शिव और शव

मुझे कहना है कि जिन्दा और मुर्दा आदमी में जो अन्तर है, वह यही है कि जिन्दा आदमी स्वयं चलता है, जीवन के क्षेत्र में वह कभी पिछड़ता नहीं, संघर्षों और विपत्तियों से टकराकर भी वह निराश नहीं होता, बल्कि आगे से आगे बढ़ता जाता है । इसके विपरीत मुर्दा आदमी (हतोत्साह) प्रेरणा पाकर भी उठता ही नहीं, उसे जबरदस्ती से घसीटा जाता है, उसे दूसरा कहीं घसीट कर भले ही ले जाए, पर वह अपने आप नहीं चल सकता, इस प्रकार जीवित मनुष्य लड़ता है, और मुर्दा सड़ता है ।

जब तक उसमें उत्साह है, शक्ति है, तब तक वह ‘शिव’ है, महान् है, समर्थ है, और जब शक्ति नहीं रहती, उत्साह खत्म हो जाता है तो वह शिव ‘शव’ बन जाता है । शिव और शव में ‘इकार’ अर्थात् शक्ति का ही अन्तर है ।

आज राष्ट्र और समाज को उन मनुष्यों की जरूरत है जो 'शिव' हैं शक्ति और उत्साह सम्पन्न हैं, राष्ट्र पर आज उन शवों (लाशों) का भार नहीं सहा जा सकता जिनमें देश, धर्म और समाज के लिए कुछ भी करने की शक्ति नहीं है।
मन का अन्धकार

शास्त्रों का ज्ञान कितना ही क्यों न हो, पर उसके नीचे भी अन्धकार चलता रहता है, वेश-भूषा, परम्परा और धर्मगुरुओं की छाया में भी वह अन्धकार पलता रहा है, जब तक आत्मदर्शन और विवेक की किरणें मन में प्रवेश नहीं कर पातीं, वह अन्धकार टूट नहीं सकता। उस अन्धकार में चलते हुए सभी एक दूसरे को चोर, मूर्ख, मिथ्यात्वी और दुष्ट के रूप में समझते रहते हैं।

कल्पना कीजिए गहरे अन्धकार में किसी घर में चोर घुस गया हो, उसकी खड़खड़ाहट सुनकर घर के मालिक जग पड़े और 'चोर-चोर' का शोर मचाकर सभी को जगा दे, शोर सुनकर चोर किसी कौने में दुबक कर बैठ गया हो, और घर वाले चोर की तलाश में एक-दूसरे से भिड़ पड़ें, एक-दूसरे को चोर समझकर लाठियाँ बरसाने लग जाएँ, उस अन्धकार में उन्हें पता भी नहीं चलता कि कौन अपना है, कौन पराया? कौन चोर है, और कौन चोर को पकड़ने आया है।

यही दशा हम सबकी है। जब मन में अन्धकार भरा रहता है तो अपने-पराए और चोर-साहूकार का भेद नहीं कर पाते, और यों ही एक-दूसरे से भिड़ते रहते हैं। एक-दूसरे को गालियाँ देते रहते हैं।

आज सम्प्रदायों, परम्पराओं और वेश-भूषा में जो परस्पर विग्रह और द्वन्द्व चल रहा है उसका मूल कारण यही मन का अन्धकार है, मन के अन्धकार में भटकते हुए हम एक-दूसरे पर आज लाठियाँ बरसा रहे हैं, उन्हें अज्ञानी, मूर्ख और मिथ्यात्वी बतला रहे हैं।

जिन्दा मनुष्य की निशानी

जब मैं लोगों से यह शिकायत सुनता हूँ कि क्या करें, परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं, नहीं तो हम भी कुछ करते। तब मुझे सचमुच बड़ा ताज्जुब होता है। मैं सोचता हूँ वे जिन्दा भी हैं या नहीं? उनमें जीवन की आग है भी या नहीं? वे

जीवन भर यूँ ही परिस्थितियों का रोना रोते-रोते एक दिन यहाँ से कूच कर जाएँगे। वास्तव में मनुष्य अपनी बुजदिली और अकर्मण्यता को छिपाकर दुनिया की नजरों से, और अपने आपकी नजरों से बचने के लिए उस पर परिस्थितियों का लबादा डालने की चेष्टा करता है।

आप सही मानिए अनुकूल प्रवाह, वातावरण और परिस्थितियों का इन्तजार तो मुर्दे किया करते हैं; जीवित या जानदार आदमी नहीं। बलिष्ठ और जीवट वाला नाविक धार या बहाव के विपरीत भी अपनी नाव को खेता हुआ चला जाता है। वह संसार में भेड़-बकरियों की गिनती में नहीं किन्तु मनुष्यों की गिनती में आता है।

भगवान् महावीर ने कहा है—

“अणुसोओ य संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारे।”

—दशवैकालिक

प्रवाह के पीछे-पीछे तो संसार चलता ही है। किन्तु सच्चा वीर वह है, जो प्रतिस्रोत में चले, जिधर उसकी गति होती है, उसी तरफ किनारा मिल जाता है जिधर उसके चरण बढ़ते हैं, उसी ओर मार्ग बन जाता है।

“बढ़ जाते जब चरण, स्वयं पथ बन जाता है
चल पड़ती ऋद्ध नाव किनारा मिल जाता है ॥”

वास्तव में जिन्दा मनुष्य की यही निशानी है।

भूल सिद्धान्त न बने

कभी-कभी मन में एक बात आती रहती है कि गलती होना, गलत विचार स्वीकार कर लेना आसान है, किन्तु धीरे-धीरे वह गलती स्वभाव या आदत बन जाती है, और वह गलत विचार सिद्धान्त बन जाता है, फिर वह छूटना बड़ा मुश्किल हो जाता है, और उसका बुरा परिणाम व्यक्ति व समाज को भुगतना ही पड़ता है।

एक दिन एक भाई (श्रावक) के यहाँ मुझे जाना पड़ा, वह बीमार था, और यूँ मर-मर कर जी रहा था। उसकी पत्नी ने कहा इन्हें साँस की बीमारी है, मगर

तम्बाकू नहीं छोड़ते, जब भी तम्बाकू पी लेते हैं हालत बिगड़ जाती है । पत्नी की बात का उसने उत्तर दिया—महाराज ! अब तो मसान (श्मशान) में ही छूटेगी । मैंने कहा—तुम तो खूब जोश के साथ भगवान महावीर की जय बोलते थे जिन्दगी भर महावीर का नाम रटने पर भी इतनी वीरता नहीं आई कि एक बुरी आदत को जानते हुए भी नहीं छोड़ सकते ?

यह एक तम्बाकू की ही बात नहीं है, मनुष्य हजारों प्रकार की तम्बाकुओं के घेरे में फँसा हुआ है, गलत विचार, गलत परम्परा और गलत आचार की तम्बाकू ने उसे इस प्रकार जकड़ रखा है कि जानते हुए भी कि यह बात कभी भूल से स्वीकार करली थी, मगर असत्य है, उसे छोड़ नहीं सकते, छोड़ने की बात दूर रही उसे असत्य करने का साहस भी नहीं कर पाते ।

यह हालत सिर्फ साधारण मनुष्यों की ही नहीं किन्तु बड़े-बड़े धर्मगुरुओं और आचार्यों की भी है । पहली बात तो यह है कि वे गलत विचार को सिद्धान्त के रूप में मान बैठते हैं, उसका आग्रह उनके दिमाग में जड़ें जमा लेता है और फिर उस आग्रह के कारण अनेक विग्रह पैदा होते हैं । सौभाग्य वश उनमें नये विचार की कोई किरण फूट पड़ती है, सत्य की जिज्ञासा जग उठती है और वे गलत को गलत समझ लेते हैं, फिर भी उसको गलत कहने का साहस नहीं करते । वे सोचते हैं बात तो ठीक है, मगर अब ऐसा कहेंगे तो जनता क्या सोचेगी ? मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या आपकी दृष्टि में सत्य का कुछ भी मूल्य नहीं, सिर्फ जनता की राय का ही मूल्य है ? यानी अपनी प्रतिष्ठा का मूल्य है ।

इस प्रकार धर्म गुरुओं और आचार्यों की मानसिक दुर्बलता के कारण कभी-कभी समाज को असत्य का जहरीला घूँट भी पीना पड़ता है । जहाँ असत्य की पूजा होती है, वह समाज कभी भी उठ नहीं सकता, उस पर हमेशा मुर्दनी छाई रहती है ।

इसलिए सत्य प्रेमी बन्धुओं से मेरा एक निवेदन है कि वे गलत आचरण को कभी स्वभाव न बनने दें, और गलत विचार को कभी सिद्धान्त न बनने दें । यदि दुर्भाग्य वश ऐसा हो गया हो, तो उसे उखाड़ फेंकने का साहस करें ।

दो पाँखें

आचार्य भद्रबाहु ने एक बात कही है—

मोक्ष की ओर उड़ चलने के लिए जीवन में आचार और विचार की दोनों पाँखों की आवश्यकता है। यही बात हारीत स्मृतिकार ने कही है—

यथान्नं मधु संयुक्तं मधु वान्नेन संयुतम्
उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः ७।१०
तथैव ज्ञान कर्माभ्यां प्राप्य ते ब्रह्म शाश्वतम्—७।११

मीठे से युक्त अन्न और अन्न से युक्त मीठा—सुस्वाद होता है। दोनों पंखों से ही पक्षी आकाश में उड़ सकता है उसी प्रकार ज्ञान और कर्म से ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

मनुष्य को जीवन में हमेशा द्वित्व की जरूरत पड़ी है। नर और नारी दो ही हैं, शरीर में दो पैर हैं, दो ही हाथ हैं, दो आँख और दो कान हैं। दो के बिना जीवन का संतुलन ही बिगड़ जाता है। जिस गाड़ी का एक ही चक्र हो तो उससे यात्रा नहीं की जा सकती।

“नहु एगेण चक्केण रहं पयाइ”

इसीलिए भगवान् महावीर ने उद्घोष किया—कुछ लोग जो पागल दार्शनिकों की भाँति फिरते हैं, पुकारते हैं—सुयं सेयं—ज्ञान ही श्रेष्ठ है, वे कभी कल्याण नहीं कर सकते।

और जो केवल क्रियाकाण्डों के चक्रव्यूह में फँसे रहते हैं—यः क्रियावान्, स पण्डितः—के सूत्र वाचक हैं वे भी संसार में ठोकरें खाते रहे हैं। उनका—सीलं सेयं—क्रिया ही श्रेष्ठ है—का नारा उनकी नैया को पार नहीं लगा सका।

जीवन की गाड़ी को चलाने के लिए आचार और विचार का संतुलन आवश्यक है। ये दोनों पाँखें ठीक होंगी तभी जीवन की अनन्त आकाश में गति की जा सकेगी।

वह प्रगति-दुर्गति है

विश्व-इतिहास के पन्नों पर ऐसी धूमिल तस्वीरें आज भी स्पष्ट दीख रही हैं जो अपनी विचारहीनता के कारण जीवन की अँधेरी गलियों में ठोकरें खाते फिरे हैं। वे यही समझते रहे हैं कि हम प्रगति पथ पर बढ़ रहे हैं, किन्तु वास्तव में उनको न मार्ग का ज्ञान था, न मंजिल का। इसलिए सिर्फ अपने घेरे के इर्द-गिर्द ही उनका यह चक्रमण होता रहा।

उन विचारहीन प्रगतिवादियों की स्थिति तेली के उस बैल के समान थी, जो दिन भर घानी के चारों ओर चक्कर लगाता रहा—जब शाम हुई, थक कर चूर-चूर हो गया तो सोचा आज २५-५० मील की मंजिल तय कर ली है, मगर जब आँखों पर से पट्टी हटाई गई तो देखा कि वह तो मालिक के उसी घर और उसी आँगन में खड़ा है जहाँ सुबह यात्रा शुरू करने के लिए खड़ा हुआ था।

“ज्यों तेली के बैल को घर की कोस पचास”

यह दुःखद स्थिति आज भी हमारे समक्ष चल रही है और बहुत से प्रगतिवादी इसी चक्कर में फँसे हुए हैं। वे बढ़ना चाहते हैं किन्तु सही ज्ञान न होने से भटक जाते हैं। उनकी प्रगति—दुर्गति का कारण बन जाती है। इसीलिए आज से हजारों वर्ष पहले भगवान् महावीर ने यह घोषित किया था—पढमं नाणं तओ दया—पहले मन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करो, तो तुम्हारा मार्ग प्रकाशमय बनेगा और किनारा निकट आता दिखाई देगा।

विचार फूल हो, चट्टान नहीं

यह सही है कि विचारों की विषमता रहती है, विचित्रता भी रहती है, किन्तु मात्र विचारों में ही विषमता रहती हो तो कोई खतरा नहीं, वह पुष्प की तरह हल्की-फुल्की भारहीन सौरभ से मदमाती हो !

किन्तु विचारों का वैषम्य जब 'वाद' का चोगा पहन कर जम जाता है और चट्टान की तरह ठोस बन जाता है तो वह टकराहट पैदा करता है, और राहगीरों के सिर फुड़वाने भी लग जाता है। अतः विचारों की द्वैधता को चट्टानों की तरह अलग-अलग खड़ा न करके रंग-बिरंगे फूलों को सजाना चाहिए, ताकि उनसे संसार को उल्लास, स्फूर्ति और आनन्द मिलता रहे।

चेतन मस्ती

कुछ लोग भंग को 'सिद्धि' नाम से पुकारते हैं, उनका कहना है कि भंग के पीने पर मस्ती आ जाती है, और वह मस्ती हमें परमात्म-भाव की आनन्दानुभूति करा देती है।

वास्तव में यह सुषुप्तावस्था या नशे की बेहोशी सच्ची मस्ती नहीं है, मस्ती वह है, जो छाए तो ऐसी कि फिर उतरे ही नहीं।

हमें मस्ती चाहिए किन्तु वह मस्ती भंग, शराब या किसी व्यामोहक तत्त्व की नहीं चाहिए। मस्ती वह चाहिए जिसमें अपने ही अन्तर में डूबकर लीन हो जाए, निज स्वरूप की मस्ती चाहिए। जिसमें अक्षय आनन्द की सतत अनुभूति हो। हमें वही चेतन मस्ती चाहिए, जीवित मस्ती चाहिए, जड़ सुषुप्त मुर्दा मस्ती नहीं चाहिए।

समवाद

भारत के प्राचीन दर्शनों और विशेष रूप से योगदर्शन में 'यम' का वर्णन आता है। जैन साधना-पद्धति में उससे पहले 'सम' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'यम' की ध्वनि वस्तु-त्याग की ओर प्रेरित करती है, किन्तु 'सम' का नाद मन की पवित्रता और शीतलता को स्फुरित करता है। जैन साधना 'यमवाद' की साधना नहीं, किन्तु 'सम'—'सम्यक्वाद' की साधना है। उसने त्याग से पहले त्याग के प्रति सम्यक् बुद्धि (सम्यक्-दर्शन) को माना है। प्राचीन आचार्य 'योग निग्रहो गुप्तिः' कहते थे, किन्तु आचार्य उमास्वति ने इस परिभाषा सूत्र को यों कर दिया—

'सम्यक् योग-निग्रहः—गुप्तिः'—जो ठीक विचार और विवेक पूर्वक योग का निग्रह किया जाता है, वही गुप्ति है। योग-निग्रह का महत्व भी तभी है, जब उसमें विवेक और समतः हो, नहीं तो वह मात्र देह-दण्ड होता है।

अहिंसा की सम्पूर्णता

एक बात मन में आती है कि अहिंसा और दया की जो बातें और संदेश दिए जाते हैं, वे जो जैन-लोग हजारों वर्षों से सुनते आ रहे हैं, और दया और अहिंसा

का कार्य कर भी रहे हैं। किन्तु बकरोँ और कबूतरों आदि को मारने वालों से छुड़ाने भर से ही तो अहिंसा की सम्पूर्णता नहीं हो जाती। यह कार्य ठीक है, किन्तु यहीं तक उलझे रहना अच्छा नहीं है। जब तक मारने वाले की वृत्ति नहीं बदलती, तब तक मरने वाले तो उनके हाथ लगते ही रहेंगे, एक से छुड़ा दिया तो दूसरा खड़ा हो जाएगा। अहिंसा की सम्पूर्णता उसमें है कि मारने की वृत्ति बदल दी जाय। इस सम्बन्ध में मारवाड़ में जो खटीक जाति को अहिंसा और दया का सन्देश देकर उन्हें अहिंसक समाज-रचना के अंग बनाए जा रहे हैं, वह बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। वास्तव में मारने की वृत्ति खत्म हुए बिना अहिंसा का विस्तार कठिन है। हिंसक वृत्त को मिटाना अहिंसा का सबसे श्रेष्ठ प्रचार है।

आग बुझाने वाले

एक बार मुझे एक सर्वधर्म-सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमन्त्रित किया गया। कार्यकर्ताओं ने निर्णायक के आसन पर भी मुझे बिठा दिया। मैंने वहाँ पर देखा कि धर्म-गुरुओं का अच्छा-खासा बना हुआ था वह सम्मेलन। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति यह कहकर कि—हम यह कर सकते हैं, हम वह कर सकते हैं, चुप होता गया। सभा का समारोप करते हुए मैंने कहा—किसी व्यक्ति का मकान जल रहा है और कई टोलियाँ वहाँ पर आजायें, एक टोली कहे यह आग हम बुझा सकते हैं और इस पर दूसरी कहे—नहीं, यह आग बुझाने की सबसे अच्छी तरकीब हमारे पास है, और सभी टोलियाँ इसी प्रकार कहती हुई परस्पर लड़ पड़ें और आग न बुझाएँ, इस तरह उस बेचारे का घर तो राख का ढेर बन जाएगा।

क्या आज भारत ही नहीं, किन्तु संसार भर के धार्मिकों के बीच कुछ ऐसा ही तो नहीं हो रहा है? हर धार्मिक अपने धर्म-देवता और धर्म-ग्रन्थों की मात्र प्रशस्ति करके ही संतुष्ट नहीं हो जाता है, अपितु दूसरे के धर्म देवता और धर्म-ग्रन्थों के प्रति घृणा और गलत फहमी भी फैलाने लग जाता है। इस प्रकार आग बुझाने की बात करने वाले आग लगाने वाले बन जाते हैं, और उनकी लगाई आग में संसार तबाह हो रहा है।

मातृभूमि का प्रेम

भारतवर्ष की मिट्टी में यह विशिष्टता रही है कि वह माता और मातृ-भूमि को स्वर्ग से भी अधिक प्यार करती है। यहाँ मातृभूमि की मिट्टी को चन्दन मानकर तिलक किया जाता है। पानी को गंगा जल मानकर पूजा जाता है और मातृभूमि के हर वृक्ष को भाई की तरह प्यार किया जाता है।

जोधपुर के महाराज यशवन्तसिंह जी एकबार जब युद्ध की इच्छा से काबुल की ओर जा रहे थे, मार्ग में एक टीले पर हरेभरे फोग के पौधे को देखकर प्रसन्नता से फूल उठे, घोड़े से नीचे उतर कर उसे सगे भाई की तरह आलिंगन में कस लिया और भाव भरे शब्दों में कहने लगे—

“सुणरे देशी रूखज, म्हे परदेशी लोग।

म्हाँनै अकबर तेडिया, तूं कित आयो फोग ॥

“हम तो दिल्लीश्वर की आज्ञा से इधर आ गए, किन्तु तुम यहाँ कैसे आ गए?”

इस प्रकार मातृ-भूमि के पेड़-पौधों और हर वस्तु को उन्होंने बड़े प्रेम, स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखा है और उसके लिए हर प्रकार का बलिदान किया है।

धर्म का देवता

मन्दिरों और धर्म-स्थानों में जब भक्तों की जमा भीड़ और उनका भजन-पूजन का बड़ा समारोह देखता हूँ, तो मन में आता है कि ये लोग कितने बड़े धर्मात्मा होंगे, जो सदी-गमीं और भीड़-भाड़ की परवाह किए बिना भक्ति कर रहे हैं। किन्तु जब उन्हें ही घर और दुकान पर कलह, बेईमानी और अत्याचार करते देखता हूँ तो मन सिहर उठता है और सोचता हूँ कि इन्हीं लोगों ने संसार को धर्म का विरोधी बनाया है, इन्हीं लोगों ने धर्म के प्रति द्वेष और घृणा के भाव फैलाए हैं।

यह बात दिन के उजाले की तरह स्पष्ट मान लीजिए कि जब तक धर्म का देवता जीवन के मन्दिर में नहीं बोलता—तब तक मन्दिर, मस्जिद, स्थानक और

किसी भी प्रतीक की पूजा, सत्संग केवल जड़-पूजा है। जड़-श्रद्धा है। जिस दिन जीवन में धर्म प्रकट होगा उसी दिन धर्म की सच्ची पूजा होगी।

ट्रेड मार्क

एक दिन एक विचारवान् संत से किसी ने पूछा—आपका शास्त्र क्या है ?
पंथ क्या है ?

संत कुछ देर मौन रहा फिर हँसा और बोला—जो कुछ हूँ सो मैं ही हूँ, मैं ही मेरा ग्रंथ हूँ, मैं ही मेरा पंथ हूँ और मैं ही मेरा संत हूँ। याने मेरे भीतर का 'संत' ही मेरा ग्रंथ और पंथ है।

उस संत के शब्दों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य का विचार और आचरण यह जाहिर कर देते हैं कि वह किस पथ का पथिक है। जिस प्रकार हमारे भारतवर्ष में अलग-अलग संप्रदायों के तिलक, जटा, दंड आदि अनेक 'ट्रेडमार्क' होते हैं, जिसे देखते ही पहचान लिया जाए कि यह किस पंथ व संप्रदाय का मानने वाला है, उसी प्रकार 'संत' का सबसे बड़ा 'ट्रेड मार्क' उसका आचार और विचार ही होता है। न्याय की भाषा में यही उसका 'लक्षण' है।

शिक्षा का तरीका

अज्ञान मनुष्य भूल करता है, भूल करना स्वभाव नहीं किन्तु सहज जरूर है। परन्तु जो स्वयं को ज्ञानवान् मानता है उसका यह ज्ञान ठीक नहीं कि वह दूसरों की भूलों पर हँसे, निन्दा और घृणा फैलाए। भूल जताने में भी अवहेलना और आत्मा को कुचलना नहीं चाहिए। उसकी आत्मा को बड़े हल्के और मधुर ढंग से सहला कर जागृत करना चाहिए ताकि वह शिक्षा की ताजी हवा से नयी ताजगी और नया जीवन पाकर खिल सके, महक सके।

उपादान की शुद्धि

साधना की दृष्टि से उपादान का शुभ होना अनिवार्य है। यदि उपादान (मूल आत्मा) शुभ है तो अशुभ निमित्त मिलने पर भी वह लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होता, किन्तु उस अशुभ से भी शुभ की ओर बढ़ता जाता है। जैसे गज सुकुमाल को सोमिल

का, और सुदर्शन को अभया रानी का अशुभ निमित्त मिला, किन्तु उस वातावरण और परिस्थिति में भी वे निरंतर शुभ की ओर बढ़ते रहे ।

यदि उपादान ही अशुभ हो तो कितने ही शुभ निमित्त मिल जाँएँ, वह साधना की ओर बढ़ नहीं सकता । गोशालक और जमालि को भ. महावीर का निमित्त मिला । राजा उदयन को मारने के लिए रत्नसार भट्ट साधु बन कर बाहर वर्ष तक अध्ययन और शास्त्राभ्यास करता रहा—निमित्त शुभ होने पर भी हुआ कुछ नहीं, चूँकि उपादानमूल सत्ता ही अशुभ जो थी । इसलिए आत्मा की पवित्रता पहली बात है । साधनों की पवित्रता से पहले साधक की आत्मा निर्मल और पवित्र होनी अनिवार्य है । तभी साधना की सफलता हो सकती है ।

समता की साधना

जगत-जाह्नवी के कूल पर खड़ा कोई मनुष्य उसकी शीतल लहरों से आनन्द उल्लास मनाता है, तो कोई व्याकुल भी हो उठता है । विश्व के वायु-मण्डल में अनुकूलता और प्रतिकूलता का स्रोत हमारी अपनी परिस्थितियों के अनुसार बनता है । एक ही चीज दो भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न रूप में आती है, इसमें वस्तु का दोष नहीं, किन्तु हमारी भावना और उनसे बनी परिस्थितियों की सापेक्षता ही इसके लिए उत्तरदायी होती है ।

किसी व्यक्ति के दो लड़कियाँ थीं—एक माली को ब्याही हुई थी और दूसरी धोबी को । एक बार उसने अपनी एक लड़की से कुशल सप्ताचार पूछा तो उसने बताया, सब कुछ तो ठीक है लेकिन वर्षा नहीं है, बाग सूखा जा रहा है, आप भक्ति बहुत करते हैं, अतः एक माला वर्षा के लिए मेरी ओर से भी फेर लिया करें ।

दूसरी लड़की से पूछा तो बताया—यूँ तो सब अच्छा ही है । कपड़े धुलने को आए हैं, वर्षा न आए, कड़ी धूप पड़े तो अच्छा है—आप भी भगवान से यही प्रार्थना करिए ।

पिता के लिए समस्या यह है कि वह किसकी भलाई के लिए माला फेरे ? जिससे एक की भलाई है उसी से दूसरे की बुराई भी है । अदुकूलता और

प्रतिकूलता का ये द्वन्द्व सिर्फ एक व्यक्ति के लिए ही नहीं किन्तु जगत के प्रत्येक देहधारी के समक्ष है। जो बात एक के लिए अनुकूल होती है वही अन्य के लिए प्रतिकूल बन जाती है। इसका उत्तरदायित्व हमारी भावनाओं पर है। दोनों ही परिस्थितियों में भावनाओं को विकृत होने से बचाना—समता की साधना है।

बड़ा भाई या छोटा भाई ?

एक प्रश्न है कि बड़ा भाई बनना अच्छा, या छोटा भाई ? उत्तर यह है कि—

एक बात—भाई बनना अच्छा है, उसमें बड़पन या छोटपन की भावना नहीं आनी चाहिए।

दूसरी बात—यदि अवस्था या पद की दृष्टि से छोटे-बड़े का भेद करना पड़े तो सिर्फ काल्पनिक होना चाहिए, वह भेद-रेखा सिर्फ मिट्टी की रेखा के समान होनी चाहिए, पत्थर की दरार के समान नहीं। अब यदि बड़ा बनना हो तो उसके सामने राम का आदर्श हो। राम ने लक्ष्मण और अपने बीच कभी भी छोटे-बड़े की भेद-रेखा नहीं खींची, दोनों के हृदय समान थे।

समानीव आकृतिः समापनो हृदयानि च

यदि छोटा भाई बनना हो तो बलभद्र (बलराम) और श्रीकृष्ण का उदाहरण समक्ष है। श्रीकृष्ण ने छोटे होकर भी जो किया वह महान् और अद्भुत था। दोनों ही आदर्श हमारे समक्ष मौजूद हैं। बड़े भाई के भी उत्तरदायित्व बहुत बड़े हैं, और छोटे भाई के भी बहुत कर्तव्य हैं। जिस मार्ग पर चलना हो, उसी आदर्श को चुनकर चलें।

मौन व्रत

एक विचार है कि 'मौन व्रत' का क्या अभिप्राय है ? साधारण भाषा में कह दिया जाता है कि न बोलने का नाम 'मौन' है। किन्तु सात्त्विक दृष्टि से बात कुछ दूसरी ही है। न बोलना 'मूकता' है, 'मौन व्रत' नहीं है। मौन व्रत में एक विशेष प्रकार का संकल्प जाग्रत होना चाहिए, उसके पीछे विचार और विवेक होना चाहिए। 'मौन' किया, किन्तु उस मौन से मानसिक-विकल्पों की कमी हुई या नहीं ? यदि विकल्पों की कमी हुई, और उसमें सम्यक् ज्ञान और सम्यक् विचार

हैं तो वह मौन-व्रत सही है, अन्यथा वह वाणी का अभाव है। उस स्थिति में पृथ्वी भी मौन पड़ी रहती है, पहाड़ भी मौन हैं, निद्रा या बेहोशी में सोया आदमी भी मौन रहता है, गूंगा आदमी भी मौन रहता है। किन्तु वह मौन-व्रत नहीं है।
जैन कौन ?

एक प्रश्न बहुधा उठता है कि 'जैन एवं 'जिन' में क्या अन्तर है ? और इनका क्या अर्थ है ? इस सम्बन्ध में विचार यह है कि मिथ्यात्व, कषाय आदि भावों के विजेता को 'जिन' कहा गया है, और उस 'जिन भाव' की आराधना करने वाला 'जैन' है। जैन न कोई जाति है और न कोई बाना है। वह तो जिनत्व की साधना है। जिस आत्मा में जितने अंश में जिनत्व जागृत हुआ वह उतने अंश में जैन है। ऐसी बात नहीं है कि 'जिन भाव' सिर्फ १३वें या १४ वें गुणस्थान में पहुँचने पर ही होता है। स्व के बोध होने पर और आत्मा की शक्ति पर विश्वास जागृत होने पर वह चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाता है। श्रद्धा, विश्वास और आत्म-ज्ञान के लिए पुरुषार्थ की यही पहली मंजिल भी जिनत्व की मंजिल है, और इस पर आने वाला हर आत्मा 'जैन' है।

एक झटका है

रामायण के एक कथानक के अनुसार हनुमान जैसा वीर मेघनाद के नागपाश (ब्रह्म पाश) में बँध जाता है, रावण उसे अनेक जलीकटी सुनाता है, और तब हनुमान एक झटका लगाकर नागपाश को तोड़कर मुक्त हो जाता है। नागपाश की अजेय शक्ति के सम्बन्ध में हनुमान के मन में संस्कार जमे थे, उसके सामने उसे अपनी शक्ति तुच्छ लगी इसलिए वह बँध गया, किन्तु जब उसे अपनी शक्ति पर भरोसा आया-आत्मा में साहस का स्रोत उमड़ा तो एक ही झटके में नागपाश के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

यह स्थिति रामायण के एक हनुमान की नहीं, किन्तु प्रत्येक आत्मा की है। प्रत्येक आत्मा एक हनुमान है, और वह माया, प्रकृति या कर्मों के नागपाश में बँधा है। जब तक वह बंधन की शक्ति के समक्ष अपने को हीन समझता है तब तक उसका कैद्वी बना रहता है। किन्तु जिस दिन उसने अपनी अनन्त शक्ति पर

भरोसा कर लिया, अन्तर का विश्वास जग गया तो फिर एक झटका भर देने की जरूरत है, मुक्ति का अनन्त आकाश उसके लिए खुला पड़ा है । ७

सर्व-भोग्या वसुन्धरा

एक बार आगरा के आर्य समाज भवन में सर्व-धर्म सम्मेलन का आयोजन किया गया । मेरा अनुभव तो यह है कि बहुधा सर्वधर्म सम्मेलन के मंच पर सर्वधर्म खण्डन का ही अभिनय किया जाता है । धर्म वाले अपने धर्म की प्रशंसा के साथ ही दूसरे धर्म का खण्डन भी कर जाते हैं ।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि उस सर्वधर्म सम्मेलन में मुझे भी भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया गया । मैं जिस स्थान पर बैठकर भाषण कर रहा था उसके सामने दीवार पर लिखा था—“वीर-भोग्या वसुन्धरा”—इसका अर्थ है, जो वीर है—शक्तिशाली है, वही संसार के ऐश्वर्य का उपभोग कर सकता है ।

मैंने भाषण प्रारम्भ करते हुए कहा—यदि एक शब्द में जैन धर्म का निचोड़ कहूँ, तो वह शब्द यह है कि—जहाँ ‘वीर’ शब्द है, उसे निकाल कर उसी स्थान पर ‘सर्व’ शब्द रख दिया जाए । जैन धर्म का उद्घोष है कि विश्व में जो ऐश्वर्य है, सुख-साधन है, उसे भोगने का सबको समान अधिकार है । ‘वीर’ शब्द तलवार को उत्तेजना देता है, जिसकी लाठी उसकी भैंस—इस सिद्धान्त का पोषक है । किन्तु मेरा कहना है कि इस सिद्धान्त में कौन-सी बड़ी बात है ? दुनिया के सब प्राणी जानते हैं—जंगल का खूँखार शेर भी इस सिद्धान्त को जानता है, समुद्र में रहने वाला मच्छ तथा आकाश में उड़ने वाला पक्षी भी इसे जानता है । यह मत्स्य गलागल न्याय तो सर्वत्र चल ही रहा है । फिर ‘वीर-भोग्या वसुन्धरा’ में धर्म का क्या सन्देश रहा । धर्म संसार के पटाक्षेप पर एकाधिपत्य जमाना नहीं सिखाता, वह सिखाता है प्राप्त पदार्थों को सब में बाँट कर उनका उपयोग करना, तथा सब प्राणियों का पोषण करना । जैन धर्म का स्वर

पोषण का स्वर है, समता का स्वर है, इसलिए उसका उद्घोष है—सर्व भोग्या वसुन्धरा ।

दण्ड : बनाम प्रायश्चित्त

जैन धर्म दण्ड में विश्वास नहीं करता । आप कहेंगे कि उसमें भी तो दण्ड-व्यवस्था है ! किन्तु मेरा नम्र विचार है कि उसका हृदय समझने वाला यह जानता है कि वहाँ जो प्रायश्चित्त विधान है, उसकी रूपरेखा क्या है ? दण्ड और प्रायश्चित्त में महान् अन्तर है । दण्ड दिया जाता है, और प्रायश्चित्त किया जाता है ।

दण्ड अपराधी पर लादा जाता है, उसका हृदय स्वयं को दोषी नहीं मानता है, फिर भी कानून जो लूला होता है, सिर्फ गवाह और सबूत के सहारे चलता है, उसे दण्डित करता है, दण्ड थोप देता है ।

प्रायश्चित्त में अपराध की स्वीकृति होती है, अपराध पर ग्लानि होती है, और पुनः न करने का संकल्प होता है ।

जैन धर्म में आचार्य या शासक का काम इतना ही है कि उसे आँख दे दें, वह आँख; जिससे व्यक्ति अपने अपराध को देख सके । वह रोशनी जिसके प्रकाश में अपराधी अपनी भूलों का विश्लेषण कर सके । जब उसका अन्तर्मन जागृत हो जाता है, तब स्वयं या आचार्य के समक्ष व अपनी भूलों पर, अपने अपराध पर, पश्चात्ताप करता है, उसकी विशुद्धि करता है, और पुनः न करने का संकल्प लेता है ।

इस प्रकार दण्ड और प्रायश्चित्त की पृष्ठभूमि का अन्तर हमें समझ लेना चाहिए ।

काम का तरीका

एक बालक से पूछा गया—जिस काम को तुम्हारे माता-पिता अलग-अलग करें तो एक घण्टे में कर सकते हैं, यदि उसी काम को दोनों मिलकर करें तो कितनी देर में कर लेंगे ?

बालक ने कहा—दो घण्टे में ।

यह कैसे ? एक घण्टे में पूरा होने वाला काम तो दोनों के मिलने से आधा घण्टा में ही हो जाना चाहिए ।

बालक ने उत्तर दिया—वस्तुतः काम तो आधा घण्टे में ही पूरा हो जाएगा, किन्तु उस काम को प्रारम्भ करने से पहले जो कहां-सुनी और वाद-विवाद होगा, एक-डेढ़ घण्टे का समय तो उसी में लग जाएगा ।

बालक का यह उत्तर मजाक लग सकता है, किन्तु यह मजाक आज हर घर में हो रहा है; हमारे सामने काम करने की कठिनाई नहीं है, किन्तु कठिनाई यही है कि हम सब एक मत नहीं हो पाते । सामान्य-सी बात पर भी इतने मत-भेद, इतनी बहस बाजी कि काम एक कोने में पड़ा रहता है, और पूरा समय और शक्ति वाद-विवाद में ही बर्बाद हो जाता है ।

काम करने का तरीका यह है कि—जो काम करना है, उसके विषय में शीघ्र ही निर्णय करले, और पूरी शक्ति के साथ उसमें जुट जाएँ । काम में बेकाम की बातें न करें, किन्तु परस्पर सहयोगी बनकर चलें ।

तोल नहीं, मोल

जैन-दर्शन की एक विशेषता यह है कि वह हर वस्तु को बड़ी पैनी दृष्टि से देखता है । वह वस्तु के आकार, संख्या, या नाम-तोल पर नहीं चलता, किन्तु उसके मोल पर विश्वास करता है । नाप-तोल में एक पत्थर भी काफी लम्बा-चौड़ा और भारी-भरकम हो सकता है, फिर भी वह प्रकाशमान छोटे से हीरे की बराबरी नहीं कर सकता । तोल की दृष्टि से पत्थर बड़ा होता है, किन्तु मोल की दृष्टि से हीरे का ही मूल्य अधिक होता है ।

जैन-धर्म आप से यह नहीं पूछता कि आपने कितना दान दिया, कितनी सामायिक की या कितना तप किया है ? वह तो उसका मोल—मूल्यांकन करता

है, दान में ममत्व का बोझ कितना हल्का हुआ ? सामायिक में समभाव कितना जगा और तपस्या में कषाय कितनी मन्द पड़ी ? यदि उस साधना में मोल है, तेज है, ओज है तो वह जीवन को नया मोड़ दे सकेगी, अलसाए प्राणों में नयी स्फूर्ति, नयी चेतना फूँक सकेगी। अन्यथा संख्या से कुछ नहीं होगा। अंग्रेजी में क्वालिटी (Quality) कहते हैं वही जैन-धर्म का मापदण्ड है, वह क्वान्टिटी (Quantity) कभी नहीं देखता। भगवान महावीर ने श्रेणिक को बताया कि तुम्हारे इतने बड़े साम्राज्य से भी अधिक मूल्यवान है पुनिया श्रावक की एक सामायिक। एक सामायिक का मूल्य—करोड़ों साम्राज्य से भी अधिक है। चूँकि उसमें समता का तेज जगा है। ओज निखरा है।

परिग्रह : चेतन और जड़

मुझे अपनी यात्रा का एक प्रसंग याद आ रहा है। हम कुछ सन्त विहार करते हुए चल रहे थे, पहाड़ी रास्ता था। साथ में एक वृद्ध सन्त थे, जिनकी साधना तीस वर्ष की थी और गर्व के साथ वे अपनी साधना के रोचक संस्मरण सुनाते जाते थे कि मैंने अपनी जिन्दगी के किस प्रकार कठिनाइयों के दुर्गम पहाड़ लँघे हैं, कितने तप किए हैं ! वातावरण आनन्द में भीगा-भीगा था कि यकायक उनका एक शिष्य पैर फिसलने से गिर पड़ा, उसके हाथ में पानी से भरा जो पात्र था, वह भी टूट गया। गुरु जी का क्रोध जाग उठा, शिष्य पर लगे बरसने—नालायक ! देखकर नहीं चलता, बिल्कुल नया पात्र फोड़ दिया। अब दूसरा नया पात्र यहाँ कहाँ मिलेगा ? कैसा मूर्ख और लापरवाह है !

मेरा दिमाग सन्न रह गया, तीस वर्ष की कठोर साधना की बात करने वाला साधक भी इस प्रकार जड़ वस्तुओं के ममत्व से बँधा है कि वह थोड़ा-सा नुकसान हो जाने पर आपा भूल जाता है। वह चेतन, जिसके पैर में चौट आई, जिसे दर्द हुआ उसकी कोई चिन्ता नहीं, चिन्ता है उस जड़ पात्र की।

यही स्थिति आज पूरे समाज की है, जड़ का महत्व बढ़ रहा है, चेतन का महत्व कम हो रहा है। यूँ हमारे परिपार्श्व में दोनों प्रकार के परिग्रह हैं, चेतन और जड़ ! किन्तु यहाँ जड़ का सवाल आता है, हम चेतन को ठुकरा देते हैं, माता-पिता का सम्बन्ध पैसे के सामने दब जाता है। मैत्री और रिश्तेदारी स्वार्थ से टकराने पर चूर-चूर हो जाती है। भाई-भाई में विग्रह होते हैं, पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद होते हैं—सिर्फ जड़ की ममता के कारण !

जीवन की इस विलोम गति को बदलना होगा, जड़ परिग्रह से वैराग्य लेकर चेतन को महत्व देना होगा। हाँ, यूँ तो आखिर चेतन-परिग्रह से भी मुक्त होना है, लेकिन उससे पहली भूमिका है—जड़ की ममता से मुक्त होना।
लंका कितनी दूर है.... ?

एक आचार्य ने राम के जीवन का वर्णन करते हुए कहा है—रावण सीता को चुराकर ले गया और राम उसकी खोज करते-करते वानरवंशी राजा सुग्रीव से मिले, तो राम को मालूम हुआ कि रावण, सीता को चुराकर लंका में ले गया है। राम ने वानर सेना से पूछा लंका यहाँ से कितनी दूर है ?

सेना में जामवन्त नाम का एक वृद्ध सेनापति था, शरीर से वह जर्जरित था, किन्तु उसके प्राणों में जीवट था, आश्चर्य की मुद्रा में प्रश्न को दोहराते हुए उसने कहा—क्या पूछा आपने ? लंका कितनी दूर है ? और फिर हँसते हुए उत्तर दिया—लंका इतनी दूर है कि एक-दो वर्ष या सौ-पचास वर्ष तो क्या, हजार-हजार वर्ष भी पूरे हो जाएँ तब भी वहाँ तक पहुँच नहीं सकते ! और लंका इतनी निकट भी है कि एक कदम उठाया और दूसरा कदम धरा कि लंका के सिंह द्वार पर !

राम कुछ समझ नहीं पाए, उन्होंने फिर पूछा कि तुम्हारी इस पहेली का गूढ़ार्थ क्या है ?

जामवन्त ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा—जिस मनुष्य के जीवन में उत्साह नहीं है, शक्ति और स्फूर्ति नहीं है, वह व्यक्ति हजारों-हजार वर्ष बिता देने पर भी लंका नहीं पहुँच सकता। परन्तु जिसके बाहु में बल है, पैरों में शक्ति है, मन में उत्साह है और जीवन में तेज है वह कुछ ही क्षणों में लंका की दूरी तो क्या, ससागरा पृथ्वी को भी एक छोर से दूसरे छोर तक नाप सकता है। आप यह मत पूछिए कि लंका कितनी दूर है; बल्कि यह पूछिए कि हमारे अन्दर कितना उत्साह है, कितना साहस और कितना तेज है— !

जामवन्त ने राम के समक्ष जीवन के जिस सनातन सत्य को उघाड़ कर रखा, वह आज भी हमारे सामने स्पष्ट है—किसी कठिनतम कार्य को साधते हुए कार्य की दुष्करता किंवा उसकी विशालता को नहीं देखना चाहिए, किन्तु अपना उत्साह व साहस देखना चाहिए। यदि आपके मन में साहस का स्रोत बह रहा है, तेज और बल है तो निश्चित ही आप उस दुष्कर कार्य को सुकर कर लेंगे। सफलता आपके हाथों में होगी।

इच्छा-योग की साधना

जैन धर्म की साधना इच्छा-योग की साधना है—सहज योग की साधना है। जिस साधना में बल-प्रयोग हो, वह साधना निर्जीव बन जाती है। साधना के महाप्रथ पर अग्रसर होने वाला साधक अपनी शक्ति के अनुरूप ही प्रगति कर सकता है। साधना की जाती है, लादी नहीं जा सकती।

संसार में जैन धर्म अहिंसा का, शान्ति का, प्रेम का और मैत्री का अमर सन्देश लेकर आया है। उसका विश्वास धैर्य में है, तलवार में नहीं। उसका धर्म आध्यात्मिकता में है, भौतिकता में नहीं। साधना का मौलिक आधार यहाँ भावना है, श्रद्धा है। आग्रह और ललात्कार को यहाँ प्रवेश नहीं है। जब साधक जाग उठे, तभी से उसका सबेरा समझा जाता है। सूर्य-रश्मियों के संस्पर्श से कमल

खिल उठते हैं। शिष्य के प्रसुप्त मानव को गुरु जागृत करता है, चलना उसका अपना काम है।

आगम-वाङ्मय का गम्भीरता से परिशीलन करने वाले मनीषी इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि परम प्रभु महावीर प्रत्येक साधक को एक ही मूलमंत्र देते हैं, कि “जहा सुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंघं करेह” देव बल्लभ मनुष्य ! जिसमें तुझे सुख हो, जिसमें तुझे शान्ति हो, उसी साधना में तू रम जा। परन्तु एक शर्त जरूर है,—“जिस कल्याण-पथ पर चलने का तू निश्चय कर चुका है, उस पर चलने में विलम्ब मत कर, प्रमाद न कर।”

इसका तात्पर्य इतना ही है, कि जैन धर्म की साधना के मूल में किसी प्रकार का बलप्रयोग नहीं है, बलात्कार से यहाँ साधना नहीं कराई जाती है। साधक अपने आप में स्वतन्त्र है। उस पर किसी प्रकार का आग्रह और दबाव नहीं है। भय और प्रलोभन को भी यहाँ अवकाश नहीं है। सहज-भाव से जो हो सके, वही अच्छी साधना है। आत्मकल्याण की भावना लेकर आने वाले साधकों में वे भी थे जो अपने जीवन की सन्ध्या में लड़खड़ाते चल रहे थे, वे भी थे, जो अपने जीवन के वसन्त में अठखेली कर चल रहे थे, और वे भी थे जो अपने गुलाबी जीवन में अभी प्रवेश ही कर पाए थे। किन्तु भगवान् ने सबको इच्छा-योग की ही देशना दी—“जहा सुहं देवाणुप्पिया.....” जितना चल सकते हो चलो, बढ़ सकते हो, बढ़ो।

अतिमुक्त कुमार आया, तो कहा—आ तू भी चल। मेघकुमार आया, तो कहा—आ और चला चल। इन्द्रभूति आया और हरिकेशी आया—सबको बढ़े चलो की अमृतमयी प्रेरणा दी। चन्दनबाला आई तो उसका भी स्वागत। राह सबकी एक है, परन्तु गति में सबके अन्तर है। कोई तीव्र गति से चला, कोई मन्द गति से। गति सब में हो। मन्दता और तीव्रता शक्ति पर आधारित है, यही इच्छायोग है, यही इच्छा-धर्म है, यही सहज-योग की साधना है।

गाथापति आनन्द आया। कहा—भंते ! श्रमण बन सकने की क्षमता मुझ में नहीं है। महाप्रभु ने अमृतमयी वाणी में कहा—“जहा सुहं.....”। श्रमण न सही, श्रावक ही बनो। सम्राट् श्रेणिक आया। कहा—भंते ! मैं श्रावक भी नहीं बन सकता। यहाँ पर भी वही इच्छा-योग आया—“जहा सुहं.....”। श्रावक नहीं बन सकते, तो सम्यग्दृष्टि ही बनो। जितनी शक्ति है, उतना ही चलो। महामेघ बरसता है और जितना पात्र होता है, वैसा और उतना ही जल प्राप्त हो जाता है।

जैन धर्म एक विशाल और विराट् धर्म है। यह मनुष्य की आत्मा को साथ लेकर चलता है। यह किसी पर बलात्कार नहीं करता। साधना में मुख्य तत्व सहज भाव और अन्तःकरण की स्फूर्ति है। अपनी इच्छा से और स्वतः स्फूर्ति से जो धर्म किया जाता है, वस्तुतः वही सच्चा धर्म है, शेष धर्माभास मात्र होता है।

जैन धर्म में किसी भी साधक से यह नहीं पूछा जाता कि तूने कितना किया है। वहाँ तो यही पूछा जाता है, कि तूने कैसे किया है? सामायिक, पौषध या नवकारसी करते समय तू शुभ संकल्पों में, शुद्ध भावों के प्रवाह में बहता रहा है या नहीं? यदि तेरे अन्तर में शान्ति नहीं रही, तो वह क्रिया केवल क्लेश उत्पन्न करेगी—उससे धर्म नहीं होगा। क्योंकि “यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव-शून्याः।”

जैन धर्म की साधना का दूसरा पहलू यह है कि मनुष्य अपनी शक्ति का गोपन कभी न करे। जितनी शक्ति है, उसको छुपाने की चेष्टा मत करो। शक्ति का दुरुपयोग करना यदि पाप है, तो उसका उपभोग न करना भी पापों का पाप है—महापाप है। अपनी शक्ति के अनुरूप जप, तप और त्याग जितना कर सकते हो, अवश्य ही करो। एक आचार्य के शब्दों में हमें यह कहना ही होगा—

“जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तस्स सहहणं ।
सहहमाणो जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं ॥”

“जिस सत्कर्म को तुम कर सकते हो, उसे अवश्य करो। जिसको करने की शक्ति न हो, उस पर श्रद्धा रखो, करने की भावना रखो। अपनी शक्ति के तोल के मोल को कभी न भूलो।”

आचारांग में साधक को लक्ष्य करके कहा गया है—“जाए सद्भाए तिवखंता तमेव अणुपालिया।” साधको ! तुम साधना के जिस महामार्ग पर आ पहुँचे हो, अपनी इच्छा से,—उसका वफादारी के साथ पालन करो। श्रावक हो, तो श्रावक धर्म का और श्रमण हो, तो श्रमण धर्म का श्रद्धा और निष्ठा के साथ पालन करो। साधना के पथ पर शून्य मन से कभी मत चलो। सदा मन को तेजस्वी रखो। स्फूर्ति और उत्साह रखो। कितना चले हो, इसकी ओर ध्यान मत दो। देखना यह है, कि कैसा चले हैं। चित्रमुनि ने चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को कहा था—“राजन्, तुम श्रमणत्व धारण नहीं कर सकते, कोई चिन्ता की बात नहीं। तुम श्रावक भी नहीं बन सकते, न सही। परन्तु इतना तो करो कि अनार्य कर्म मत करो। करना हो, तो आर्य कर्म ही करो।”

इससे बढ़कर इच्छा-योग और क्या होगा ? इससे अधिक सरल और सहज साधना और क्या होगी ? जैन धर्म का यह इच्छा-योग मानव-समाज के कल्याण के लिए सदा द्वार खोले खड़ा है। इस में प्रवेश करने के लिए धन, वैभव और प्रभुत्व की आवश्यकता नहीं है। देश, जाति और कुल का बन्धन भी नहीं है। आवश्यकता है, केवल अपने सोए हुए मन को जगाने की, और अपनी शक्ति को तोल लेने की।

आज के अशान्त मानव को जब कभी शान्ति और सुख की जरूरत होगी, तो उसे इस सहज धर्म इच्छायोग की साधना करनी ही होगी।

संस्कृति का स्वरूप

आज चारों ओर संस्कृति की चर्चा है। सभा में, सम्मेलन में और उत्सव में, सर्वत्र ही आज संस्कृति का बोल-बाला है। सामान्य शिक्षित व्यक्ति से लेकर

विशिष्ट विद्वान् तक आज संस्कृति पर बोलते हैं, संस्कृति पर लिखते हैं। परन्तु संस्कृति की परिभाषा आज तक भी स्थिर नहीं हो सकी है। संस्कृति क्या है? विद्वानों ने विभिन्न पद्धतियों से इस पर विचार किया है? आज भी विचार चल ही रहा है, संस्कृति की सरिता के प्रवाह को बाँधने का प्रयत्न तो बहुत किया गया है, पर उसमें सफलता नहीं मिल सकी है। भारत के प्राचीन साहित्य में धर्म, दर्शन और कला की चर्चा तो बहुत है, पर संस्कृति में सर्वत्र संस्कृति ही मुखर हो रही है। उसने अपने आप में धर्म, दर्शन और कला तीनों को समेट लिया है। संस्कृति में क्या नहीं है? उसमें आचार की पवित्रता है, विचार की गम्भीरता है और कला की प्रियता एवं सुन्दरता है। अपनी इसी अर्थ-व्यवस्था के आधार पर संस्कृति ने धर्म, दर्शन, कला—तीनों को आत्मसात कर लिया है। जहाँ संस्कृति है, वहाँ धर्म होगा ही। जहाँ संस्कृति है, वहाँ दर्शन होगा ही। जहाँ संस्कृति है, वहाँ कला होगी ही। भारत के अध्यात्म साहित्य में संस्कृति से बढ़कर अन्य कोई शब्द व्यापक, विशाल और बहु अर्थ का अभिव्यञ्जक नहीं है। कुछ विद्वान् संस्कृति के पर्यायवाची रूप में संस्कार, परिष्कार और सुधार, शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। संस्कृति की उच्चता, गम्भीरता और पवित्रता को धारण करने की सामर्थ्य इन तीनों शब्दों में से किसी में भी नहीं है। अधिक से अधिक खींचातानी करके संस्कार, परिष्कार एवं सुधार शब्द से आचार का ग्रहण तो कदाचित् किया भी जा सके, परन्तु विचार और कला की अभिव्यक्ति इन शब्दों से कथमपि नहीं हो सकती। संस्कृति शब्द से धर्म, दर्शन और कला—तीनों की अभिव्यक्ति की जा सकती है।

संस्कृति एक बहती धारा है। जिस प्रकार सरिता का प्राण तत्व है, उसका प्रवाह। ठीक उसी प्रकार संस्कृति का प्राण तत्व भी उसका सतत प्रवाह है। संस्कृति का अर्थ है—निरन्तर विकास की ओर बढ़ना। संस्कृति विचार, आदर्श, भावना एवं संस्कार प्रवाह का वह संघटित एवं स्थिर संस्थान है, जो मानव को

अपने पूर्वजों से सहज ही अधिगत हो जाता है। व्यापक अर्थ में संस्कृति को भौतिक और आध्यात्मिक-दो भागों में बाँटा जा सकता है। भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। इसमें भवन, यान, यन्त्र आदि वह समस्त भौतिक सामग्री आ जाती है, जिसका समाज ने अपने श्रम से निर्माण किया है। कला का सम्बन्ध इसी भौतिक संस्कृति से है। आध्यात्मिक संस्कृति में आचार, विचार और विज्ञान का समावेश किया जाता है। संस्कृति का अर्थ—संस्कार भी किया जाता है। संस्कार दो प्रकार के हैं—एक वैयक्तिक, जिसमें मनुष्य अपने गुण से, अपनी शिष्टता से चमकता है। दूसरा सामूहिक, जो समाज में समाज विरोधी आचार का प्रतिकार करता है। समान आचार, समान विचार, समान विश्वास, समान भाषा और समान जीवन की पद्धति संस्कृति को एकता प्रदान करती है।

संस्कृति, मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। जीवन जीने की कला अथवा पद्धति को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति आकाश में नहीं, इसी धरती पर रहती है। वह कल्पना मात्र नहीं है। जीवन का ठोस सत्य है, जीवन का प्राणभूत तत्व है। मानवी जीवन के नाना विध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। संस्कृति में विकास और परिवर्तन सदा होता आया है। जितना भी जीवन का सत्य, शिवं, सुन्दरं है, उसका सर्जन मनुष्य के मन, प्राण और देह के प्रबल एवं दीर्घकालीन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ है। मनुष्य जीवन जाम नहीं होता, पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता है। धर्म, दर्शन, साहित्य और कला—ये सब मनुष्य जीवन के विकास के सुफल हैं। इस दृष्टि से संस्कृति मानवी जीवन के प्रयत्न की उत्पत्ति है। संस्कृति में जब निष्ठा पक्की होती है, तो मन की परिधि भी विस्तृत हो जाती है। उदारता का भंडार भर जाता है। अतः संस्कृति जीवन के लिए परम आवश्यक है। संस्कृति-राजनीति और अर्थशास्त्र—दोनों को अपने में पचाकर विस्तृत एवं विराट मनस्तत्व को जन्म देती है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्धन करने वाला रस है। राजनीति और अर्थशास्त्र केवल पथ की

साधना है। संस्कृति उस पथ का साध्य है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का संवर्धन बिना संस्कृति के नहीं हो सकता।

संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वज्येष्ठ परिणति कही जा सकती है। संस्कृति एक अविरोधी तत्व है। वह समस्त विरोधों में सामञ्जस्य स्थापित करती है। नाना प्रकार की धर्म-साधना, कलात्मक प्रयत्न, भोग-मूलक अनुभूति और अपनी तर्क-मूलक कल्पना शक्ति से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक तथा परिपूर्ण स्वरूप को अधिगत करता जा रहा है, जिसे संस्कृति कहते हैं। संस्कृति की सर्व सम्मत परिभाषा अभी तक नहीं बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और विचार के अनुसार इसका अर्थ कर लेता है। संस्कृति का अर्थ है—मनुष्य की जय-यात्रा। मनुष्य अपनी साधना के बल पर विकृति से संस्कृति और संस्कृति से प्रकृति की ओर निरन्तर गतिशील रहता है। जीवन में विकृति है, इसलिए संस्कृति की आवश्यकता है। परन्तु संस्कृति को पाकर ही मनुष्य की जय-यात्रा परिसमाप्त नहीं हो जाती। उसे आगे बढ़कर प्रगति को, अपने स्वभाव को प्राप्त करना होगा। यहाँ संस्कृति का अर्थ है—आत्म शोधन। संस्कृति के ये विविध रूप और नाना अर्थ आज के साहित्य में उपलब्ध होते हैं। संस्कृति एक विशाल महासागर है।

भारत की संस्कृति

भारतीय संस्कृति की विशेषता उसके आचार भूत स्वतन्त्र चिन्तन में, सत्य की शोध में और उदार व्यवहार में रही है। युद्ध जैसे दारुण अवसर पर भी यहाँ के चिन्तकों ने शान्ति की सीख दी है। वैर के बदले प्रेम, क्रूरता के बदले मृदुता और हिंसा के बदले अहिंसा दी है। भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा है—विरोध में भी विनोद, विविधता में भी समन्वय बुद्धि, सामञ्जस्यपूर्ण दृष्टिकोण। भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदार भावना और विमल परिज्ञान के भोग के जीवन में सरसता और मधुरता बरसाने वाली है। यह संस्कृति ज्ञान

का कर्म के साथ और कर्म का ज्ञान के साथ मेल बैठकर संसार में मधुरता का प्रचार तथा सरसता का प्रसार करने वाली है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है—विश्वास, विचार और आचार की जीती-जागती महिमा। भारत की संस्कृति का अर्थ है—स्नेह, सहानुभूति और सहयोग। इस संस्कृति का संलक्ष्य है—सान्त से अनन्त की ओर जाना, अंधकार से प्रकाश की ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना, कीचड़ से कमल की ओर जाना। असुन्दर से सुन्दर की ओर जाना, विरोध से विवेक की ओर जाना। भारत की संस्कृति का अर्थ है—राम की प्रवित्र मर्यादा, कृष्ण का तेजस्वी कर्मयोग, महावीर की सर्वक्षेमकरी अहिंसा एवं विरोधों का समन्वय भूमि अनेकान्त, बुद्ध की मधुर-करुणा एवं विवेकयुक्त वैराग्य और गाँधी की धर्मानुप्राणित राजनीति एवं सत्य का प्रयोग। अतः भारतीय संस्कृति के सूत्रधार है—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गाँधी।

स्रोत एक, धारा अनेक :

भारत की संस्कृति का मूल स्रोत है—“दयतां, दीयतां, दम्यताम्।” इस एक ही सूत्र में समग्र भारत की संस्कृति का निस्सन्द आ गया है। जहाँ दया, दान और दमन है, वहीं पर भारत की संस्कृति की मूल आत्मा है। यह संस्कृति भारत के जन-जन की और भारत के मन-मन की संस्कृति है। भारत की संस्कृति का मूल स्रोत है—दया, दान और दमन। प्राण-प्राण के प्रति दया करो, मुक्त-भाव से दान करो और अपने विचारों का दमन करो। भारत के जन-जन के मन-मन में दया, दान एवं दमन रमा है, पचा है। वेदों ने इसी को गाया, पिटकों ने इसी को ध्याया और आगमों ने इसी को जन-जीवन के कण-कण में रमाया। क्रूरता से मनुष्य को सुख नहीं मिला, तब दया जागी। संग्रह में मनुष्य को शान्ति नहीं मिली, तब दान आया और भोग में मनुष्य को चैन नहीं मिला, तब दमन आया। विकृत जीवन को संस्कृत बनाने के लिए भारतीय संस्कृति के भण्डार में दया, दान और दमन से बढ़कर अन्य धरोहर नहीं है, अन्य सम्पत्ति नहीं है। अपने

स्रोत रूप में भारत की संस्कृति एक होकर भी धारा रूप में अनेक है। वेद मार्ग से बहने वाली धारा, वैदिक संस्कृति है। पिटक मार्ग से बहने वाली धारा, बौद्ध संस्कृति है। आगम मार्ग से बहने वाली धारा, जैन संस्कृति है। भारत की संस्कृति मूल में एक होकर भी वेद, बुद्ध और जिन रूप में वह त्रि-धाराओं में प्रवाहित है। वेद दान का, बुद्ध दया का, और जिन दमन का प्रतीक है। अपने मनोविकारों को दमित करने वाला विजेता होता है, जिनेश्वर होता है। जिनेश्वर देव की संस्कृति ही वस्तुतः विजेता की संस्कृति है।

शक्ति का स्रोत : ब्रह्मचर्य

जीवन में शक्ति-संचय करना चाहिए। शक्ति से सिद्धि मिलती है। कमजोर आदमी न संसार को साध सकता है, न मोक्ष को। आप कहेंगे, अध्यात्मवाद की बात करते-करते आपने भौतिकवाद की बात कह दी, किन्तु आप सही मानिए जैन-धर्म जितना अध्यात्मवादी है, यहाँ आकर वह उतना ही भौतिकवादी बन गया है। उसने सिद्धि की ओर प्रस्थान किया तो ९९९ बातें आत्मा की कही हैं, किन्तु एक बात बिल्कुल शरीर के लिए कही है और वह यह है कि मोक्ष के लिए सब कुछ तैयार होने पर भी यदि शरीर का संहनन 'वज्रऋषभनाराच' नहीं है तो उसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

जैन धर्म ने कहा है—बौना और कुरूप व्यक्ति मुक्ति में जा सकता है, लूला और लंगड़ा व्यक्ति मुक्ति में जा सकता है, किन्तु जिसकी रचना ही कमजोर है, संहनन खराब है वह मोक्ष के लिए इतना बड़ा संकल्प और पराक्रम नहीं कर सकता, इसलिए उसने शरीर की शक्ति को एक बहुत बड़ी और आवश्यक शक्ति माना है। उस शक्ति-संचय का मुख्य साधन ब्रह्मचर्य माना गया है। जीवन में ब्रह्मचर्य की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि वह शक्ति का अक्षय भंडार है। जिस जीवन में शक्ति है, बल है, ओज है, पराक्रम है, वह जीवन है। भ. महावीर ने कहा है—

सवीरिए परायणइ, अवीरिए पराजयइ ।

—भगवती

वीर्यवान विजयी होता है, निर्वीर्य परास्त होता है । वह जीवन में लड़खड़ा जाता है, संघर्षों और तूफानों में उखड़ जाता है ।

कठोपनिषद् में यही बात कही है—

नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः ।

जो शरीर निर्बल और असमर्थ है, उसे आत्मा के दर्शन नहीं हो सकते ।

इसलिए भारत के प्रत्येक दर्शन, और प्रत्येक विचारक ने ब्रह्मचर्य को आवश्यक बताया है—जिन्दगी जीने के लिए भी और जिन्दगी सफल बनाने के लिए भी ।

विकारों का रीछ

प्रारम्भ में मन विकारों की ओर दौड़ता है, उनकी मोहकता और सरसता के लिए, किन्तु बाद में विकारों के चंगुल में इस प्रकार फँस जाता है कि उन्हें छोड़ना चाहते हुए भी नहीं छोड़ता । ऐसा लगता है कि अब विकार, अहंकार या वासना उस पर छा गए हैं ।

किसी सामान्य व्यक्ति को हजारों आदमियों की सभा में फूलमाला पहना कर कुर्सी पर बिठाया जाता है, तो प्रारम्भ में लगता है वह उस सन्मान से दबकर विनम्र हो रहा है, किन्तु बाद में होता क्या है कि कुर्सी का अहंकार उस पर छा जाता है, पहले वह कुर्सी पर बैठा था, अब कुर्सी उस पर बैठ गई है ।

जब विकार सामने आते हैं तो मन में एक प्रलोभन व आकर्षण जगता है, वह उस ओर बढ़ता है, और धीरे-धीरे विकारों से इस प्रकार बँध जाता है कि दुःख पाते हुए भी उनसे मुक्त नहीं हो सकता, तब वे विकार उसे नहीं छोड़ते ।

एक पुरानी कथा है—एक गुरु और एक शिष्य प्रातःकाल नदी में स्नान करने को गए । अचानक गुरु की दृष्टि एक काली चीज पर गई, जो नदी में बहती जा रही थी । गुरु ने शिष्य से कहा—देख, वह किसी का कम्बल बहा जा रहा है, उसे पकड़ ले ।

शिष्य ने कहा—महाराज ! वह मुझ से तो नहीं पकड़ा जायगा ।

गुरु ने फटकारा—मूर्ख ! इतना हट्टा-कट्टा है, और कम्बल भी नहीं पकड़ा जा सकता, अच्छा मैं जाता हूँ । गुरु ने छलांग मारी, उसे पकड़ा तो वह कम्बल नहीं, रीछ था । गुरु ने ज्यों ही उसे पकड़ा, उसने गुरु को पकड़ लिया ।

अब गुरु अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए छटपटाने लगे । शिष्य को साफ दिख नहीं रहा था, उसने दूर से आवाज लगाई—गुरुजी कम्बल छोड़ दो, रहने भी दो और कहीं से माँग लेंगे ।

गुरु ने कहा—मैं तो कम्बल को छोड़ना चाहता हूँ, किन्तु कम्बल ही मुझे नहीं छोड़ रहा है ।

यही हालत मनुष्य (आत्मा की) की हो रही है । विकारों में गहरा फँस जाने के बाद वह उनसे छुटकारा पाने के लिए छटपटाता है, किन्तु तब तक विकारों का रीछ उसे पकड़ लेता है, और फिर छुड़ाए भी नहीं छूट पाता ।

ज्योतिष का चक्कर

मनुष्य का अपने आप पर से विश्वास उठता जा रहा है । वह बातें तो करता है कि सृष्टि का वही सबसे शक्तिशाली जीव है, उससे बड़ा संसार में अन्य कोई नहीं है, किन्तु थोड़ी-सी हल्की बीमारी आई कि भागता है पीर-पैगम्बरों के द्वार पर, भूत-प्रेतों के डोरे करवाता है, या किसी तिलकधारी ज्योतिषी को ग्रह दिखाने दौड़ता है । मांगलिक वचन सुनकर बाहर निकले और बिल्ली राह काट गई तो बस जीवन की गति अवरुद्ध । किसी शुभ कार्य के लिए चले, और यदि किसी ने छींक दिया, या कुत्ते ने कान फड़फड़ा दिया तो बस, सब शुभ संकल्प विलीन हो गए । क्या बिल्ली, कुत्ते या छींक में इतनी ताकत है कि उसके सामने आपके मांगलिक स्तोत्र, शुभ संकल्प और आत्म-विश्वास हवा हो जाएँ ? यदि कोई गधा दाएँ-बाएँ निकल गया तो बस आपका भाग्य ही बदल गया ।

मैं नहीं समझ पाया कि आपका जीवन क्या, बिल्ली कुत्तों या गधों के हाथ में है या आकाश के ग्रह-नक्षत्रों से संचालित हो रहा है ?

एक परिवार में बहुत इन्तजार के बाद लड़का हुआ। घर में हर्ष छा गया, बाजे बजने लगे, गीतों की ध्वनियाँ वायु-मंडल में गूँजने लगीं, बधाइयाँ आने लगीं। परन्तु वह पिता ज्यों ही ज्योतिषी जी को ग्रह दिखाने पहुँचा, उसके चहरे का रंग उड़ गया। ज्योतिषी ने बतलाया—और तो सब ठीक है, बालक की जीवन रेखा पर मृत्यु योग पड़ा है, यदि वह सोलह वर्ष को पार कर जाए, तब तो ठीक है, अन्यथा जीवित रहना कठिन है।' यह वाक्य सुनते ही सन्नाटा छा गया, उसका आनन्द-उल्लास गायब हो गया।

एक दिन वह भाई दर्शन करने आया, तो मैंने पूछा—'क्या बात है, उदासी क्यों है ?' उक्त भाई ने सारी कथा कह सुनाई। मैंने कहा—'कौन कह सकता है कि भविष्य में क्या होगा, सब आयुष्कर्म का खेल है, किन्तु तुम क्या सोलह वर्ष तक ऐसे ही रोते-रोते इसका पालन-पोषण करोगे ? इसके विषय में जब भी सोचोगे, क्या मौत को सामने रख कर ही सोचोगे ?'

हाँ, तो मैं कह रहा था—ज्योतिष और शकुन जीवन में आनन्द तो कम पैदा करते हैं, गड़बड़ाते अधिक हैं। मनुष्य भी झट से उनके चक्कर में आ जाता है और आत्मविश्वास खो बैठता है। जब तक वह अपने आप पर विश्वास करके नहीं चलेगा, अपनी तकदीर को मुट्ठी में लेकर नहीं चलेगा, तब तक उसके जीवन में व्यवस्था, आनन्द और उल्लास नहीं आएगा।

महावीर का सन्देश

श्रमण-संस्कृति के अमर देवता भगवान महावीर का सन्देश है कि क्रोध को क्षमा से जीतो, अभिमान को नम्रता से जीतो, माया को सरलता से जीतो, और लोभ को सन्तोष से जीतो।

जब हमारा प्रेम विद्वेष पर विजय प्राप्त कर सके, हमारा अनुरोध विरोध को जीत सके, और साधुता को झुका सके, तभी इस धर्म के सच्चे अनुयायी, सच्चे मानव बन सकेंगे।

श्रमण-संस्कृति

श्रमण-संस्कृति की गम्भीर वाणी हजारों वर्षों से जन-मन में गूँजती आ रही है कि यह अनमोल मानव-जीवन भौतिक जगत् की अँधेरी गलियों में भटकने के लिए नहीं है, भोग-विलास की गन्दी नालियों में कीड़ों की तरह कुलबुलाने के लिए नहीं है। मानव ! तेरे जीवन का लक्ष्य तू है, तेरी मानवता है। वह मानवता, जो हिमालय की बुलन्द चोटियों से भी ऊँची तथा महान् है। क्या तू इस क्षण-भंगुर संसार की पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की भूली-भटकी, टेड़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर ही चक्कर काटता रहेगा ? नहीं, तू तो उस मंजिल का यात्री है, जहाँ आगे और चलना शेष ही नहीं रह जाता—

“इस जीवन का लक्ष्य नहीं है, श्रान्ति-भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं।”

महान् संस्कृति

आज सब ओर अपनी-अपनी संस्कृति और सभ्यता की सर्वश्रेष्ठता के जयघोष किए जा रहे हैं। मानव संसार संस्कृतियों की मधुर कल्पनाओं में एक प्रकार से पागल हो उठा है। विभिन्न संस्कृतियों एवं सभ्यताओं में परस्पर रस्सा-कशी हो रही है। किन्तु कौन संस्कृति श्रेष्ठ है, इसके लिए एक मात्र एक ही प्रश्न काफी है। यदि उसका उत्तर ईमानदारी से दे दिया जाय तो। यह प्रश्न है कि क्या आपकी संस्कृति में बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय की मूल भावना विकसित हो रही है, व्यक्ति स्वपोषणवृत्ति से विश्व-पोषण की मनोभूमिका पर उतर रहा है, निराशा के अन्धकार में शुभाशा की किरणें जगमगाती आ रही हैं, प्राणिमात्र के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के निम्न धरातल को ऊँचा उठाने के लिए कुछ-न-कुछ सत्प्रयत्न होता रहा है ? यदि आपके पास इस प्रश्न का उत्तर सच्चे हृदय से “हाँ” में है, तो आपकी संस्कृति निःसन्देह श्रेष्ठ है। वह स्वयं ही विश्व संस्कृति का गौरव प्राप्त करने के योग्य है। जिसके आदर्श विराट् एवं महान् हों, जो जीवन के क्षेत्र में व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण का समर्थन करती हो,

जिसमें मानवता का ऊर्ध्वमुखी विकास अपनी चरम सीमा को सजीवता के साथ स्पर्श कर सकता हो, वही विश्वजनीय संस्कृति, विश्व-संस्कृति के स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हो सकती है।

श्रमण-संस्कृति का आदर्श

श्रमण-संस्कृति का यह अमर आदर्श है कि जो सुख दूसरों को देने में है, वह लेने में नहीं। जो त्याग में है, वह भोग में नहीं।

श्रमण-संस्कृति और पापी

श्रमण-संस्कृति दानव को मानव के रूप में बदल देने की पवित्र शक्ति में विश्वास रखती है। उसका आदर्श संहार नहीं, सुधार है। उसकी भाषा में दण्ड का अर्थ बदलना नहीं, उद्धार है। जिस दण्ड के पीछे अपराधी के प्रति दया न हो, सुधार की भावना न हो, केवल बदले की क्रूर मनोवृत्ति हो, वह दण्ड पाप है, स्वयं एक अपराध है। वस्त्र यदि मलिन हो जाए, तो क्या उसे नष्ट कर दिया जाए? मैले वस्त्र को साफ किया जाता है, और पहनने के योग्य बना लिया जाता है। मनुष्य भी अपराध के द्वारा मैला हो जाता है। अतः उसे भी सस्नेह धोकर साफ करो, और शुद्ध मानव बना कर जन-सेवा के क्षेत्र में काम आने योग्य बनाओ। श्रमण-संस्कृति अपराधी के प्रति अधिक दयालुता का व्यवहार करती है, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि रोगी के प्रति किया जाता है। अपराध भी एक मानसिक रोग ही है, अतः तदर्थ दण्ड के रूप में अपराधी के लिए सुधार चाहिए, संहार नहीं।

मानव और अदृश्य शक्ति

मनुष्य जीवन में किसी अदृश्य शक्ति का हाथ नहीं है। मनुष्य किसी के हाथ का खिलौना नहीं है। वह अपने आप में एक स्वतन्त्र विराट् शक्ति है। वह अपने आप को बदल सकता है, समाज को बदल सकता है, राष्ट्र को बदल सकता है। और तो क्या, विश्व को बदल सकता है। नरक को स्वर्ग बना देना मनुष्य के लिए एक साधारण-सा खेल है।

साम्यवाद और श्रमण-संस्कृति

मैं साम्यवाद से डरता नहीं हूँ। मेरा धर्म श्रमण-संस्कृति का धर्म है, और उसका मूलाधार अपरिग्रह है, जो साम्यवाद का ही दूसरा नाम है।

श्रमण-संस्कृति का आदर्श है, कम-से-कम लेना और बदले में अधिक-से-अधिक देना। अपनी इच्छाओं, आवश्यकताओं का क्षेत्र कम करना, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न रखना, अपने समान ही अपितु अपने से अधिक दूसरों की भूख और नग्नता का ध्यान रखना, जीवन का महत्व अपने लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए समझना, यह है श्रमण-संस्कृति के अपरिग्रहवाद की मूल भावना।

“जीओ और जीने दो” यह स्वर है, जो श्रमण-संस्कृति के इतिहास में लाखों वर्षों से मुखरित होता आया है। आज के साम्यवाद का भी तो यही स्वर है। हाँ, आज के साम्यवाद के स्वर में हिंसा, घृणा, बलात्कार और वर्ग-संघर्ष के भीषण चीत्कार एवं हाहाकार भी सम्मिलित हो गए हैं ! हमारा कर्तव्य है कि हम चीत्कार और हाहाकार की पशु-भावना को दूर करके पारस्परिक सहयोग, मैत्री, प्रेम के बल पर मानव-भावना का मधुर घोष मुखरित करें। आज के साम्यवाद में जहाँ भोगवाद का स्वर उठ रहा है, वहाँ हमें त्यागवाद का स्वर छेड़ना होगा, और यही होगा—साम्यवाद का भारतीय संस्करण।



परमेष्ठि—वन्दना

नमस्कार हो अरिहन्तों को, राग—द्वेष रिपु—संहारी ।
नमस्कार हो श्री सिद्धों को, अजर अमर नित अविकारी ॥

*

नमस्कार हो आचार्यों को, संघ—शिरोमणि आचारी ।
नमस्कार हो उपाध्यायों को, अक्षय श्रुतनिधि के धारी ॥

*

नमस्कार हो साधु सभी को, जग में जग—ममता मारी ।
त्याग दिये वैराग्य—भात्र से, भोग—भाव सब संसारी ॥

*

पांच पदों को नमस्कार यह, नष्ट करे कलिमल भारी ।
मंगल-मूल अखिल मंगलमय, पाप—भीरु जनता तारी ॥

—उपाध्याय श्री अमरमुनि



मुद्रक

रवि ऑफसेट प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स (प्रा.) लि.

५/१६६/१, लता कुंज, पुराना आगरा—मथुरा मार्ग, आगरा—२